

साहित्य-देवता

○

मात्स्यमाला चतुर्वेदी

○



ग्रन्थ-संख्या—२२०

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती मण्डार
लीडर प्रेस इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण

सन् २०१६

पृष्ठ ८००

मुद्रक

धीराराम मुन्डे

लीडर प्रेस, इलाहाबाद



स्वर्गीय पं० माधवराय जी सभे

मेरे जीवन के बारी-नियन्त्रक
स्वर्गीय
पण्डित माधवरायजी सभे
के
श्री परणों में—
○



स्वर्गीय पं० माधवराव श्री सभे

मेरे जीवन के बायी-नियन्त्रक
स्वर्गीय
पण्डित माधवरायजी सभे
के
भी शरणों में—



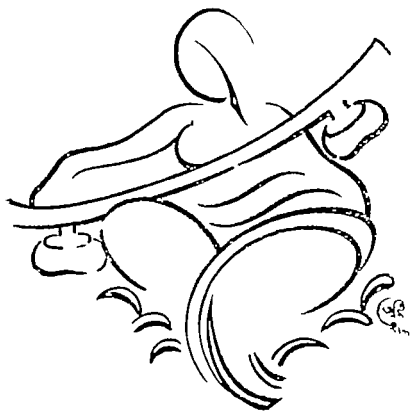


श्रीयुक्त पं० माखनसाह जी चतुर्वेदी

भूमिका

मेरी इस बोली का परिचय मैं कौन-
सी भूमिका लिखकर दूँ ? मेरा इन पृष्ठों
में किया हुआ सारा प्रयत्न ही एक
भूमिका-मात्र है । कोई साम्प्रदायी इस
भूमिका के आगे, प्रकृत वस्तु को लिख
कर मेरे इस अपूरे प्रयत्न को पूरा करेगा;
इसी आशा से मैं भारती के मन्दिर में
यह अपूरा अर्घ्य चढ़ाने का साहस कर
रहा हूँ ।

—मालवनाथ चतुर्वेदी



साहित्य-देवता

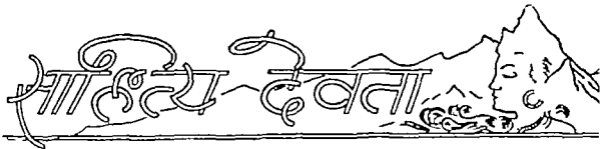


अनुक्रमिका



साहित्य-देवता	१
मुक्ति मरत बर्र पानी	१२
बनवा	१५
बौद्धियों की गिनती की पीढ़ी	२०
कृष्णकन गरी	२७
शत्रुक्रिया	३१
महत्वाकांक्षा की दल	४
साहित्य की पेशी	४६
विन्दु, विन्दुल का राजेश्वर	५२
नीलाम	५९
बद रसबंदी बोख ठठे	६५
बसुधा का पाखत् काय्य	७५
असहाय मारा का अमर निमाष	८१
सन्देश-बाहक	८६
बैठे-बैठे का पागखपन	९२
अस्तलबारी पुरुषार्थ	९६
बागी	१०६
म सचनेबाछा सौदा	११०
आधिक	११३
असहाय श्यामपन !	११५
तुम आनेवाले हो	११७
सुरक्षीपर !	११९
यद-असहाय	१२१
इसी पार	१२२
मोहम	१२३
तरम्यात् मय्य मे मय्य :	१२४
बद काशी	१२५
संभासहता	१२९
खरूर और : विजया मना	१३१
गिरिबर गीत है; मौख सुरक्षी है	१३५
'—के छापी से—'	१३५
'पूरी की निष्कट्या'	१३७
जीवन का प्रश्न-बिह—प्री	१३९





साहित्य-देवता

मैं तुम्हारी एक तसवीर खींचना चाहता हूँ ।

“ परन्तु मूल मत जाना कि मेरी तसवीर खींचते-खींचने तुम्हारी भी एक तसवीर लिखती चली आ रही है । ”

अरे, मैं तो स्वयं ही अपने माथी जीवन की एक तसवीर अपने अटोथी फेस में रक्खे हुए हूँ । तुम्हारी तसवीर बना चुकने के बाद मैं उसे प्रदर्शनी में रक्खनेवाला हूँ । किन्तु, मेरे मास्टर मैं यह पहले देल लेना चाहता हूँ कि मेरे माथी-जीवन को किस तरह चित्रित कर तुमने अपनी वेब में रल छोड़ा है ।

“ प्रदर्शनी में रक्खो तुम अस्सी बनाई हुए, और मैं अपनी बनाई हुई रल हूँ,—केवल तुम्हारी तसवीर । ”

ना सेनानी, मैं किसी भी आईने पर बिकने नहीं आया । मैं फेसा हूँ, यह पतित होते समय खूब देने लेता हूँ । अंदरे सेनैय तो तुम्हारी, केवल तुम्हारी, दीस पढ़ते हो ।

“ क्या देखना है ? ”

तुम्हें ; और तुम कैसे हो यह इलम के घाट उतारने के समय, यह हरगिब नही मूल जाना है कि तुम किसके हो ।

“ आज चित्र खींचने की बेपेनी क्यों है ? ”

कम तक मैं तुम्हारा मोल-सौग बूटा करता था । आज अपनी इत्ते बेदना को लिखने के आनन्द का मार मुझमें नहीं सँमलता ।

सबसुख पत्थर की इपिनास बहुत चाड़ी जाती है; वह बोझीला ही अधिक जाता है । ”

साहित्य-देवता

बिना बोझ के झांटे पत्थर भी होते हैं जिनमें से एक-एक की क्षीमता पचासों हाथियों से नहीं कूती जाती। परन्तु—

“परन्तु क्या ?”

मेरे प्रियतम, तুম यह मूल्य नहीं हो जिसकी, अनगने गाहक की अङ्गुलियों को देलकर अधिक-से अधिक माँग की जाती है।

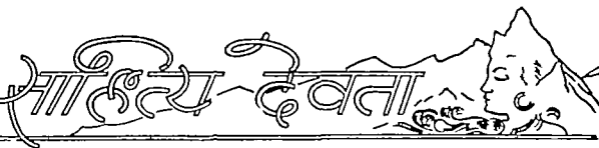
हाँ, तो तुम्हारा चित्र लीजना चाहता हूँ। मेरी कल्पना की बीम को लिलने दो, कल्पन की बीम को बोल लेने दो। किन्तु, हृदय और मसिपात्र दोनो तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्व्यक्त अथ-विराम, अलङ्कारिता का अमिराम केवल भवलता का गर्व गिरानेवाला स्वाम मात्र होगा। परन्तु यह काली हूँ अमृत-बिंदुओं से भी अधिक मीठी अधिक आकर्षक और मेरे लिए अधिक मूल्यवान् हूँ। मैं उनसे अपने आराम्य का चित्र बन रहा हूँ।

* * *

कौन सा आकार हूँ ? मानव-हृदय के सुगंध संस्कार जो हो। चित्र लीकने की सुच कहीं से लाऊँ ? तूम अनन्त वापन् आत्माओं के ऊँचे और गहरे—पर स्वयं जो हो। मेरी काली कलम का बल समेटे नहीं सिमटता। तूम कल्पनाओं के मन्दिर में विजली की व्यापक जलप्रपात जो हो। मानव मूल के पूलों और लड़ाके सिन्हाई के रक्त-बिंदुओं के संग्रह तुम्हारी तसवीर लीचूँ मैं। तूम तो वाष्पी के सरोवर में अन्तरात्मा के निवासी की जगमगा हट हो। लहरों से परे, पर लहरों में खेलते हुए। रक्त के बोझ और तपन से लाली, पर पंक्ति, वृक्ष-राशियों और सताओं तक को स्पष्टोपेन में महलाये हुए।

बेदानाओं के विश्वास के संभ्रालब, तुम्हें किस नाम से पुकारूँ ?

साहित्य-देवता



मानव-जीवन की अथ तक पमपी हुई महात्मा के मन्दिर अग्नि की सीढ़ियों से उतरता हुआ अथ का मालन चोर क्या तुम्हारी ही गोद के कने में राधे कदकर मही दौड़ा आ रहा है ? अहा, तब तो तुम जमीन को आसमान से मिलानेवाले बने हो; गोपाल के परण बिहो को साध-साध कर बढ़ने के साधन ! अग्नि की सीढ़ियों किस क्षण लचक रही हो, और कल्पना की सुक्रेमल रेशम-बोर किस समय गोविन्द के पदारविन्द के पास पहुँच कर मूलने की मनुहार कर रही हो उस समय यदि वह मूल पड़ता होगा ?— अहा, तुम कितने महान् हो ! इसीलिए जौंगकेलो बेचारा, तुम्हारे परण-पिहो के मार्ग की कुशी, तुम्हारे ही द्वार पर लटका गया है, मेरे मास्टर । पिहियों की चढ़-कू का संगीत, मैं और मेरी अमृत-निस्वैदिनी गाय मज-लता, दोनों सुनते हैं । “सलि जलो सभम के देस, जोगन धन के धूनी डाखेगे”—मैं और मेरा घोड़ा दोनों जहाँ थे वहाँ ‘शम्भु’ जी ने अपनी यह तान छोड़ी थी । परन्तु वह तो तुम्हीं थे, जिसने द्विपद और चतुष्पद का विष को निगूढ़ तल सिलाया । अरे, पर मैं तो मूल ही गया; मैं तो तुम्हारी तसबीर स्वीचने वाला था म !

हाँ, तो अथ मैं तुम्हारी तसबीर स्वीचना चाहता हूँ । पशुओं को कसा स्थानवाली ब्रह्मण और लम्बा बढ़ने के लिए लपेटे जानेवाली वृत्तों की झालें, वे इतिहास से भी परे सड़े हुए हैं; और यह देतो थैली-बद अनाज के भंडार और शाहबादे कपास के वृक्ष पाकप्रयदा अपने ऐरवर्मा को मस्तक पर रत्नकर भू-माल बनने के लिए वायु के साथ होड़ पद रहे हैं । इन दोनों जमानों के बीच की जंजीर तुम्हीं ता हो । विचारों के उरधान और

साहित्य-देवता

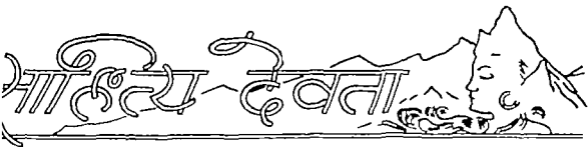
पतन तथा सीधे और टेढ़ेपन को मार्ग-दशक बना तुम्हीं न कपास के तंतुओं से झीने तान ली-कल विचार ही की तरह आचार के जगत में खन्नायी पोखली-बाखी की लाज बना रहे हो !

किन्तुने बुध्वासन आये और चले गये। तुम्हारी चीन से रात को तड़पा देनवाली सीरठ गार्ई भी और सभेरे विद्व-संहारकों से खूम्ने जाने समय उसी चीन से मुझ के नक्करे पर धके की चोट लगाई थी। मगाधिराजों के मस्तक पर से उतरनेवाली निम्नगाओं की मस्ती मरी दीह पर और उनसे निरुलनेवाली लहरों की कुरबानी से हरिवाली होनेवाली भूमि पर, लबीली पुष्पी से लिपटे तरल भीलाम्बर महासागरों पर, और उनकी लहरों को भीर कर गरीभों के रक से क्रीकड़ घान, साम्राज्यों का निर्माण करने के लिए दीहनेवाले जहाजों के मंभों पर, तुम्हीं—केवल तुम्हीं मिले दितते हो।

इंगलैंड का प्रधानमंत्री, इटली का डिप्टेटर, अफ़्गानिस्तान का पदभुत, चीन का कैं कर जागता हुआ और रूस का सिहासय उलटने और खान्ति से शान्ति का पुण्यादान करनेवाला गरीष —बह तो तुम्हीं हो। यदि तुम स्वर्ग न उतारते तो मन्दिरों में किसकी भारती उतरती ? वहाँ चमगीदक रेंगे रहते, उलूक धोलतें।

मस्तिफ के मन्दिर वहाँ भी तुमसे लासी है, वही तो हो रहा है। हस्तुभमीनारों और पिरामिडों के गुम्बज, तुम्हारे ही आदेश से आसमाय से बाले कर रहे हैं।

अँल्लों की पुतलियों में यदि तुम कोई तसबीर न लीच देते तो वे बिना दाँतों के ही चीच बासती, बिना बीम के ही रक बूस लेती।



वेग कहते हैं कमनियों के रक्त की दौड़ का आधार हृदय है—व्या
हृदय तुम्हारे सिवा किसी और का नाम है ?

व्यास का कृष्ण और वाल्मीकि का राम जिसके पंखों पर चढ़कर
हजारों वर्षों की छाती छेदते हुए आज भी लोगों के हृदयों में विराज रहे
हैं ? वे चाहे कत्रास के बने हों चाहे मोक्ष-पत्रों के, वे पंख तो तुम्हारे ही में ।

रूठो नहीं, स्वाही के शृंगार, मेरी इस स्मृति पर तो पत्थर ही पड़
गये कि—

मेरे तुम्हारा चित्र सींच रहा था ।

* * *

परन्तु तुम सींचे कहीं बैठते हा ? तुम्हारा चित्र ? बड़ी टेढ़ी लरि दे ।
सिपहसासार, तुम देवत्व को मानवत्व की चुनौती हो । हृदय से घूम कर,
कमनियों में दौड़नेवाले रक्त की दौड़ हो और हो उन्माद के अतिरेक के रक्त-
तर्पण भी ।

आह, कौन नहीं जानता कि तुम कितनों ही की पंखों की चुन हां,
पुन बह, ओ गाकुर से उठकर विश्व पर अपनी मोहिनी का सेतु बनाये हुए
हैं । झाल की पीठ पर बगा हुआ वह पुल मित्यव मितता नहीं, मुलावे
मूलता नहीं ।

ऋषियों का राग, पेशावरों का पेशाम, अबतारों की आन चुगो को भीरती
किस खालटेन के सहारे हमारे पास तक आ पहुँची ? बह तो तुम हो । और
आज भी कहीं उड़र रहे हो ? सूरज और चाँद का अपने रज के पहिये बना,
सूत्र के पोढ़ों पर बैठे, बदे ही तो अपने आ रहे हो प्यारे । उस समय हमारे

साहित्य-देवता

संपूष्य युग का मूल्य तो मेक-ट्रेन में पढ़ने वाले छोटे से स्टेशन का-सा भी नहीं होता ।

पर इस समय तो तुम भरे पास बैठे हो ।

तुम्हारी एक मुठ्ठी में मृतकाल का देकन छटपटा रहा है—अपने समस्त समर्पकों समेत; दूसरी मुठ्ठी में बिस्व का विक्षिप्त पुल्कार बिराब माग है ।

पूल के मन्दन में परिवर्तित स्वरूप कुम्भविहारी, आज तो कल्पना की फूलकारियों भी बिस्व की स्मृतियों में तुम्हारी तर्बनी के इशारों पर काहलहा रही हैं ।

तुम माब नहीं हो, इसीलिए कि मैं अनाब नहीं हूँ । किन्तु हे अमन्त पुत्र्य, यदि तुम बिस्व की कालिमा का बोम्ब सँभालते मेरे घर न आते तो ऊपर आकाश भी होता और नीचे प्मीन भी; मर्दियों भी बहती, और सरोवर भी लहरते; परन्तु मैं और बिरदियों, दोनों, और छोटे मोटे बसि-बन्दु स्वाभाविक लता-पत्री और अशक्यों से अपना पेट भरते होते । मैं भर पैशाल में भी बुझों पर शास्ता-युग बना होता । पीते-सा पुरता, मोर-सा कूकता और क्रेयल-सा गा भी देता ।

परन्तु मेरा और बिस्व के हरिवालेपन का उतना ही सम्बन्ध होता जितना नर्मदा के तट पर हरसिंघार की बुझ-शक्ति में लगे हुए टेलिग्राफ के लम्बे का गर्मवा से कोई सम्बन्ध हो ।

उस दिन भगवान् 'समय' ग जाने किसका, न जाने कब, कब उमठ कर चसते बनते । मुझे कौन जानता । बिन्ध्य की बामुनों और अरावली की स्तिरनियों के उल्लान और पतन का इतिहास किसके पास लिखा है । इसीलिए तो मैं तुमसे कहता हूँ —

“ देखे ही बैठे रहो, ऐसे ही मुसकहू । ”

साहित्य-देवता

क्यों ?

इसलिए कि अन्धकार की तरल-नूतिप्रथे समेट कर, भराबक ! मे
दुम्हारा चित्र लोचना चाहता है ।

क्या तुम भराबक नहीं हो ? कितनी गर्दियों तुमने पचनापूर नहीं
की ! कितने सिंहासन तुमने नहीं छोड़े बाले ! कितने मुकुटों को गला कर
पोढ़ों की मुनहली खोगीरों नहीं बना दी गई ?

सोते हुए अलख नरसुयों के जागरण, नाड़ी रोगी के मर की माप
बताने में बूक सचती है किन्तु तुम मुग्ध होकर भी अमाने का गणित के
अंकों जैसा मया-तुला और दीपक जैसा स्पष्ट निर्माण करते चले आ रहे
हो । आह, राम पर हानेवाले आक्रमण की बरदाश्त किया जा सकता है,
किन्तु मनोराम्य की लूट ता दूर, उस पर पढ़नेवाली ओकर कितने प्रलय
नहीं कर बालती ।

सोमे के सिंहासनो पर विराजमानों की हत्याओं से जमान के मनस्विनों
के हाम लाल है और नक्यो पर दिने जानेवाले रंग की तरह उस शक्ति की
सीमा निश्चित है । परन्तु मनोराम्य की मृगदाला पर बँडे हुए बिना शूल और
बिना सेना के पृहस्पति के अभिचार का बुनोती कौन दे सके ?

मनोराम्य पर छूटमबाला तीर प्रलय की प्रथम शतावनी लकर सौटता
है । मनोराम्य के मस्तक पर फहराता हुआ विजय ध्वज जिस दिन धूलि
पूसरित हामे लगे उस दिन मनुष्यत्व दूरबीन से भी हँडे कहीं मिलेगा । उस
दिन, ज्वालामुखी फूट पड़ा होगा, बरस टूट पड़ा होगा ।

प्यारे, शून्य के अंक गति के संकेत और विरुध के पन-पय की

साहित्य-देवता

तथा विस्तृति की गति की लाल-झंडी तुम्हीं तो हो। तुम्हारा रंग उतरने पर वह आत्मतर्पण ही है जो फिर तुम पर सावित्रा बरसा सके। जिस मंदिर का झंडा लिपट आय, वह डॉबामोल हो उठे, उसमें मर-नारायण नहीं रहते। उस देश को पराये करण अभी खोने है, अपने मांस से पराये बूढ़े अभी सौभाग्यशील बनाने रखने है, पराई उतरन अभी पहननी है। ये, प्रियतम तुम्हारी—

“ उतरन पहनी हुई तखीर नहीं खीरूंगा। ”

* * *

उतरन—झुरी तरह स्मरण हो आया ! बुरे समय, बुरे दिनों। अपना कुछ न रखनेवाला ही उतरन पहने।

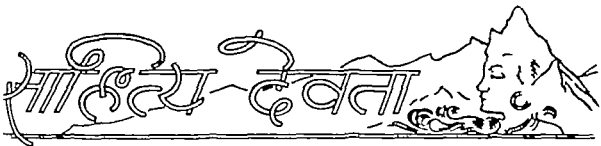
जो क्षितिज के परे अपनी खैरुली पहुँचा पाये, जो प्रत्यक्ष के उस ओर रक्ती हुई बस्तु को छू सके, वह उतरन क्यों पहने !

झेंप और बर्मान जैसी माथाओं का आपस का सेन देन उतरन नहीं, वह तो माई चारे की मेट है।

एक मिलारिन मों मेरी भी है। उसने भी रत्न प्रसन्न किये हैं। पत्थरों से बोझिले, फंफुड़ों से गिनती में अधिक; खाली अम्न-करण में मुद्देग से अधिक आवाज करनेवाले।

मातृ-मन्दिर में उतरन पर एक बूसरे से होड़ लं रहा है। उतरन-संपह की बहादुरी का इतिहास उसकी पीठ पर लदा हुआ है।

गत वर्ष होनेवाले बिस्व-परिवर्तनों के क्षणे, पुराने अलखारी पर, आज हम हजारों बहाज के गने आधिष्णर की तरह बहस करते हैं।



बीणा, बंसी और अज-तरंग का सर्वनाश ही नहीं हो चुका, हार-मोनिषम और विषानो भी किस काम आएँगे ?

हमारा कोई गीत भी तो हो ? कला से महलाया हुआ, हृदय तोड़कर निकला हुआ ।

बीणा में तार नहीं, दिल में गुबार नहीं ।

म जाने हम तुम्हारा ज मोरनब मनाने हैं या मरण-त्योहार ? धूलगाड़ी पर धिंटे धिंटे हवाई जहाज देता करते हैं । पिन्ली के रास्ता फाट जाने पर हमारा अपराधुन होता है, किन्तु बेगार का तार सिद्धवरलौंड की खबर भास्ट्रे लिया पहुँचाकर भी हमारी मुतियों को नहीं छूता । तब हमारी सरस्वती से तो उसका सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है ? ऐंजिन के रूप में बपकती हुई ज्वालामुखी का एक व्यापार हमारी छाती पर हो रहा है ।

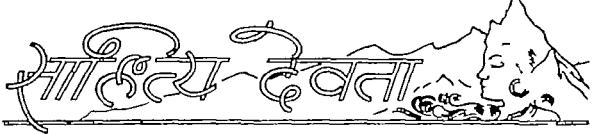
प्यारे, इस समय अभागति की ज्वाल-मालाओं में से ऊँचा उठने के लिए आकर्षण चाहिए । हृयको ने इसी लालच से तो तुम्हारा नाम इच्छा रक्ता हांगा ।

पूरा तुम युग-संदेशवाहिनी अपनी बॉमुरी लेकर पीठ आओ । रामायण में जहाँ बालकाण्ड है, वहाँ लक्ष्मणकण्ड भी तो है । तुम्हारी तान में भैरवी भी हो, कलिंगड़ा भी हा ।

अरा बन्सी लेकर पीठ आओ । मैं तुम्हारा बिज मुरलीपर के रूप में चाहता हूँ ।

* * *

“ शिव संहार करते हैं ”—कॉम जाने ! किन्तु मेरे सगम तुम मूलर महलों के संहारक हो । आपण्डियों ही स तुम्हारा दिव्य गान उठता है ।



किन्तु यह हमारी पथे-कृती देखी। बाले चढ़ गये हैं, बातावन बन्द हो गये हैं। सूर्य की नित्य नवीन प्राण प्रेरक और प्राण-मूरक किरणों की यहाँ शुभ्र कहीं ! ये तो द्वार लटलटा कर लौट जाती है।

द्वार पर चढ़ी हुई धेलें पानी की पुकार करती हुई बिना फलवती हुए ही अस्तित्व खो रही है। वित्त-नर्पण करनेवाले अन्धकों को लेकर मैं इस कुटी का बड़ा साफ करने ही में लग जाना चाहता हूँ। क्लिने तप हुए कि इस कुटिया में सूर्य दर्शन नहीं होते। मरे देवता ! तुम्हारे मन्दिर की जब यह अवस्था क्लिने हुए हैं, तब बिना प्रकाश, बिना हरियालेपन बिना पुष्प और बिना विरह की मर्षिता को तुम्हारे द्वार पर लड़ा क्लिने, तुम्हारा चित्र ही कहीं उतार पाऊँगा !

विस्तृत गीले आसमान का पत्रक पाकर मैं देवता ! तुम्हारी तसबीर लीचने में शायद देवी-चित्तरे इसीलिए असफल हुए, उन्होंने चद्र की रश्मिमा की दावात में, अन्तम बुबोकर चित्रण की कल्पना पर चढ़ने का प्रयत्न किया और प्रतीक्षा की उद्ध्रिता में सारा आसमान पबीला कर चलते बने। इस बार मैं पुष्प लेकर नहीं, क्लिबों तोड़कर आने की तैयारी करूँगा, और ऐ विरह के प्रथम-प्रसात के मन्दिर, उवा के तथोमय प्रकाश की चादर तुम्हें आड़ाकर, तुम्हारे उस अन्तरतर का चित्र लीचने आऊँगा, जहाँ तुम अशेष सँकटों पर अपने हृदय के टुकड़े बलि करते हुए रोप के साथ बिलवाइ कर रहे होगे।

आज तो उदास, पराश्रित और मर्षिय की वेदनाओं की गउरी सिर पर लाद, मेरे बाता में उन क्लिबों के आने की उम्मीद में उहरता हूँ, जिनके कोमल अन्तस्तात को धेदकर उस समय जब तुम नगाधिराज का मुकुट पहने दोनों स्कंधों से आनेवाले संदेशों पर मस्तक झुला रहे होगे, गंगी और साहित्य-देवता ++

साहित्य-देवता

जमुनी का हार पहने घंग के पास तरल पुनोती पहुँचा रहे होंगे, नर्मदा और ताप्ती की करघनी पहने विष्णु को बिरब नापने का पैमाना घना रहे होंगे, कृष्णा और कावेरी की कोरवाला नीलाम्बर पहने विजयनगर का संदेश पुण्य-भद्रेश से गुबार कर सद्मादि और अरावली को सेनानी बना मेवाड़ में आला आगते हुए देहली से पेशावर और भूटान चीरकर अपनी बिर कल्याणमयी वाणी से बिरब को न्याता पहुँचा रहे होंगे, और हवा और पानी की बेड़ियों तोड़ने का निरचय कर, हिन्द-महासागर से अपने परण पुत्रपा रहे होंगे,—

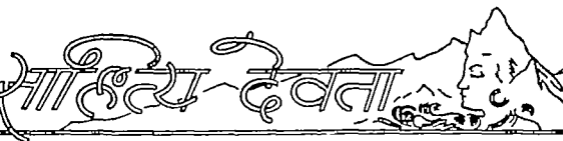
—ठीक उसी सचिकट मरिच्य में, हों सूची से कलियों का अन्तःकरण
 श्रेय मेरे शिमतम में तुम्हारा चित्र लीजने आऊँगा ।

तब तब चित्र लीजने योग्य अरुणिमा भी तो तैयार रखनी होगी ।

बिना मस्तकी को गिने और रफ को मापे ही मैं तुम्हारा चित्र लीजने
 आ गया ।

दधता, यह दिन आने दो, स्वर सच आने दो ।





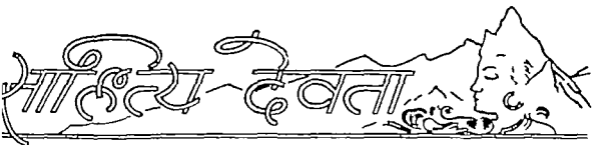
मुक्ति भरत खर्दें पानी

एक मेरे घर ही में रहता है, पर जीवन भर हम एक दूसरे से नहीं मिले। एक नर्मदा-नाट छोड़कर, गाज़ा-सट पर रहता है पूरे चार सौ मील की दूरी पर, पर हम रोब लड़ भी लेते हैं, शिक्षागत भी कर लेते हैं, प्रसन्न भी हो लेते हैं, और रूठ भी लेते हैं। एक दूसरे के बिलकुल पास रहते हैं।

हृदय के संयोग पर विजय पाकर, सन्तो ने जीवन के वियोग का दिवाला जगद दिया। मीठी पलकों के 'कुछ और ही' खाद की हृदय से भोगुलियों पर उतारने का पागलपन कैसे सभे ! खारी बूँदों का सलोनापन, खाली बूँदों में भावे ! किसे, किस रास्ते होकर !

मिलन-मूल की मीठी !—बह करे, जो वियोग के मूलपन को स्वीकृत करे। मुक्ति मींगमा मछो का बाना नहीं, वे तो बाहर के वियोग को हठकर प्योतने भाते हैं, इसके बिना अंतर की एक-रसता का जनमे भर ही नहीं बढ़ता, अगर ही नहीं बढ़ता। अंतर में, 'राज्याजी' से एक हो बाना, मीरा के गिरधर का प्यार है, तुलसी के रघुनाम की सुँपराली लटों की लटकन है, तुषोपाराम (तुषाराम) के विठोवा के पदों की आहट है, सूर की अपने गोपाल को बेबसी के बेमन से मरी पटककर है।

मुक्ति !—बह तो है मुक्ति का मावे की खाली, मुक्ति के सुहाग का विन्दूर-बिन्दु ! लोहमान्य ने गीता-रहस्य में संन्यासियों पर एक तीर छोड़ा है—“संन्यासी होने पर भी मनुष्य को मोक्ष का लालच तो रहता ही है।” बिनोबा ठीक कहते हैं कि यह तीर भक्तों के सन्मुल नहीं ठहरेगा। तुझ और तुलसी, सूर और मीरा ने लालच को ही संन्यास देकर—पर छोड़ा



भा, तब फिर उनके पास खीनसा छालच रह जाता, लालच छोड़ने के लालच के सिवा । मक्ति की 'भाजी पिन लॉन' के सामने, 'मुक्ति की महमानी' का मूल्य ही खिना ।

‘ बुन्बाबन क राजा हूँ बोर धाम राधिका रानी
बारि पवारच करत मजूरी मुक्ति भरत जहँ पानी । ’

किन्तु 'झामावादी' के नाम से यदनाम के मुँह से निकलनेवाली बाणी पर खिने नाराज । वेदान्त की रेतीली भावाज में 'सोऽहमस्मि' सुनकर हम समझ भी लेते हैं, सिर भी जुगा देते हैं । किन्तु यही बात यदि कोई आँसुओं से भिगोकर मस्तिष्क की सरस्वती में बह दे !—यह अपराधी ।

जो भास-भास बहनेवाले मन्द समीरण से खना-भूँसी करता है, जो तितलियों से खेलता, चिड़ियों से मिलकर चहुकता, गङ्गा और यमुना के स्वर से स्वर मिलाकर अपनी मीठी स्मृतियों को दुहराता, जो उड़एक होने पर हवा पर ताने कसता, कल्पियों की चटक का पुटकियों पञ्जाकर समर्पण करता है उसे रोकनेवाला खीन ।

काम का बोलना ही उससे यड़ी कठिनाई से होता है फिर वह बोलन का काम अपने पास कैसे पाल सके ।

तीक और रीक दानों ही का उसके पागलपन पर काबू डालने का अधिकार नहीं, अब तक ये किसी हृदय से, आँसुओं के अक्षरों में लिखी न आई हों । उसके एक ही स्वर होता है:—

“ मन्द के कुमार इरबाल तेरी कुरत व
तरे लिय प्यारे हिन्दुमानी हो रहूँगे म । ”

मस्तों की यही खान, हृदय की यही बे-पसी, प्राणों का यही

साहित्य-देवता

सिलवाङ्ग, मामबता का सनातनधर्म है । चाहे कोई सूखी के लमी से लटक-
कर 'मनसहक' कह दे, चाहे कोई किय कन्न प्याला पीकर —

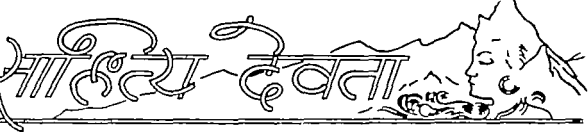
चाहे मैं गोबिन्द लौट्यो मोल

कह दे, चाहे कोई नुगों की बाशी में,

स्पाम कपि सुधि बधिर कतौटी

चित्त कंचनहि कसेहों कह दे—





खजता

यह भँगड़ाई, यह भालसी, यह शिथिलता मेरी ?

“ एक-रसता मेरा स्वभाव है । शक्ति मेरा जीवन है । ”

पर तुम्हें भयंकर होते किन्नरी देर खगती है ?

“ मे ता समुद्र की लहरों के समान फली हुई हैं ; एक वृत्ती से टूटी हुई, जल-विन्दुओं में घँटी हुई । सतह के बन्दीखाने में रहनेवाली मेरी मलयता से बहपन की आशा क्यों करते हो ? ”

विषय का बहपन, उसकी भयंकरता, उसकी कठोरता, उसका सारा विनाशत्व प्रचो, घाटियों, परबरो और पर्वत-मालानो तथा हिंस्र जन्तुओं के रूप में शतरंज के खेल की तरह उधाड़ा—बिना टैकर—पड़ा हुआ है ।

देवि तुम भी ऊँची हा नीची हो, गहरी हा विस्तृत हा, गतिशीला हा । केवल तुम्हारे ऊँच टीले और तुम्हारी गोद में रहनवास भयंकर जीव तुम्हारी उखड़ी तरलाई की पादर भादे बिरेक की भोट से परे पड़े हुए ह ।

तुम्हारी ठंडक में काई भाग नहीं लगामा चाहता, किन्तु क्या यह काई बड़ी सींग है कि जब तुम्हारा सरलतम अंत-करण दुकरान के लिए भी और तुम्हारे अन्तरतम में निवास करनेवाली रसों की राशि छूट ले जान के लिए भी तुम पर चढ़ाई हो, तब वहाँ तुम समस्त मूमएडल का निगलन की सामर्थ्य रखती हो तहाँ तुम्हारी छाती का छेदने और तुम्हारी तरंगों की मर्जी पर पीनेवाला शत्रु का जहाती पड़ा तुमसे निगला न जा सके ।

देवि, यह तो जल-विन्दुओं के आर बनन का समय है । लहरों के टूटकर, जल-विन्दु हो जाने का नहीं ।

साहित्य-देवता

“दीवाने, मेरी ठंडक पर विश्र गर्व करता है। कणकल-नाद की कवि कहानी लिखते हैं। मुझसे प्रायः-संधार की आशा की जाती है। इसीलिए मेरी बूंदों ने जीवन नाम पाया है। मैं तो तेरा संगीत हूँ—मोहक हूँ, मधुर हूँ, आकर्षक हूँ। इस ठंडक, इस मल्ली, इन लहरों में तो मेरी गोद में खेलनेवाले का मद्यज्ञान भी मुझा बालने का दावा रखती हैं। मेरी इस मोहकता से तुम खैन-सा संहार किया चाहते हो ?”

देवि ! मैं तुम्हारी यह बात हरगिज नहीं भूलता कि तुम हिन्द-महा सागर जैसी हो। हाँ, तुम्हारी तरलार्ई का नाम जीवन भी है और मन भी है। जीवन हो—अपनी गोद में खेलनेवालों के लिए। और मन हो—अन्तरतम छूटने के लिए आनेवाले छुट्टेरो के पल की परीक्षा लेने के लिए।

छोटे से सरोवर के अन्तरतम की ठुकराने पर, यह भी अस्थाधारी के लिए, अपना चिर-संभित करीब सतह पर फेंक देता है। उसके अंधकार में सरोवर की गोद में निवास करनेवाले छोटे-छोटे बल-अन्तुओं को घातक देल नहीं पाता।

ऐ महागदों और सरोवरों की स्वामिनी, क्या तुम्हारी गोद ही चोरी और बन्मारी के लिए लुभी छोड़ दी गई है ?

माना, तुम्हारी लहरों के तार मिलने पर तुम मधुर हो मोहक हो, आकर्षक हो। जिस दिन तुम्हारे पर की तुम लुद स्वामिनी हो उची दिन यह काम्प-शाक का किन्दो होसता है। मैं तो तुम से निकैदन करता हूँ कि भातकों के जहाजी बेड़े तुम्हारे तरल अन्ताकरण को पीरने का पहुँचे हैं। उनके प्रहारों का जवाब लहरों की संगीतमयी म्यु से नहीं—उनके आर पूर्ण भीत्तर से दो।

साहित्य-देवता



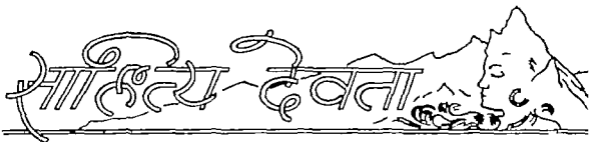
तुम्हारा एक पार उठ पढ़ना घड़े-से बड़े घेड़ों को निगल सकता है । यह तो लहरियों के गुनगुनाने और तुम्हारे पुटकियों बनाने का समय नहीं है । इन बहावों पर तुम अपनी अनन्त गहराई के गर्भ में छुपे हुए जब वस्तुओं को जागरण का सन्देश पहुँचाओ । लहरों को पर्वत-शिलों की समता करने के लिए उचोखित होने दो । देवि इस समय शान्त सतह का गर्भ न करो ; तुम्हारी तली भयंकर है इसका अभिमान करो । जिसने टीले हैं लाइवों हैं और भयंकर हिंस प्राण्यी भी हैं । उस इतिहास को नहीं आकर झूठा न होने दो जिसमें चौबा जार्ज प्रगन्त का तत्पनशीन, मंथ मंडित—मंथ-मुकुट-बारी और संहार का अन्तार आर—को भी तुम पर लूट लूटो करने आने, जिन्होंने भी तुम्हारे अन्तस्तल को मरुभूमी के अपने सिंहासन पर बिम्बा लौटकर नहीं गये । ऐसे छिपने संहारक पर्वतों को तुमने कल्पना की वस्तु नहीं बना जाला ? जिनकी शिलारों विभित मले हों, पर उनमें न गोक है, न योम है और न बल है ।

तब क्या तु चाहता है कि मेरी गोद में कोई लेले ही नहीं ? ”

महामाया, मैं यह नहीं चाहता । लेले यह, जो तुम्हारे अपने हों । लेले यह, जो तुम्हारे अपने बन कर रहे । लेने यह, तुम्हारी गोद के घन, जिनकी माताओं की गोद में समान आदर और स्नेह के साथ रोज सके । तरलार्थ की देवता, जो लेले, तुम्हारी लहरों की नहीं पर लेले, तुम्हारी तरंगों की इच्छा पर । लेने उसी समय तक जब तक तुम्हारा अन्तःकरण न दुष्टराया जाय, तुम्हारे अन्तर-तर की रत्न-राशि न लूटी जाय ।

सुन्दरे को जानने दो कि तुम्हारा हास्य यदि बरदान दे सकता है ता तुम्हारी आत्म-नशा-पूर्ण उमल-मुषण प्रलय कर सकती है । और तुम समुद्र

साहित्य-देवता



बैसी ही तो हो। समुद्र में ती कितने ही गुमराह हो जाते हैं, किन्तु दया मयी तुम तो सदियों से मातङ्ग के लिए अपने अन्तर का दिव्य द्वार खोलें बैसी हो।

“तब क्या मैं यह सब कुछ निगल जाऊँ जो मेरी सतह पर है ?”

छटि-मेखवा, मैं यह कम कहता हूँ ! जो तुम्हारी लहरों का नहीं तोड़ते-भराड़ते जो तुम्हारी सतह को नहीं झकझोरते, जो विरुष के गुमराहों को राह पर बलाते हैं और स्वार्थ के लिए अपने प्रक्षयित मस्तिष्कों को मीषा कर जो तुम्हारी रक्ष-शक्ति को छूटने के लिए नीचे नहीं होते विरुष के उन प्रक्षय-स्तम्भों को टूटाराने की बात मैं तुमसे कम कहता हूँ ! वे तुम्हारी गोद की रोमा हैं। वे तुमसे निगले भी नहीं जा सकतीं।

“अनिसा यह व्यापार ? पुष्प के शस्त्रों के बंध करने का यह तुम्हारा कैसा हठ है ?”

“विरुष की बँसुरियों के सुर में मैं अपने सुर मिलाने रहती हूँ। भ्रमितो को पता है कि मेरी लहरियों में दाम में उम्हें लिपटना, क्लिष्टना, आलिंगन और पुष्प-प्रदान किया है और भाव तुम रण-निर्मयण लेकर भाके हो।”

“जिस समय मैं अपने बाण खोलूँ तब तब खींच बैरूँगी, जिस समय मेरी तरल लहरें बनें बनकर सतह की सीमा को चौंका-सींका करने लगेंगी, उस समय जागते हो, वह चुड़की, वह फिड़की और वे प्रहार कायू से बाहर हो जायेंगे, स्वयं मेरे भी कायू से बाहर ?”

“उस समय जिस तरह कराराँ तलवार का बार बिरह-वल्गार पर लह कर उठता है, उसी तरह मेरी लहरों के प्रहारों से बच्चों विषाक उठेंगी।

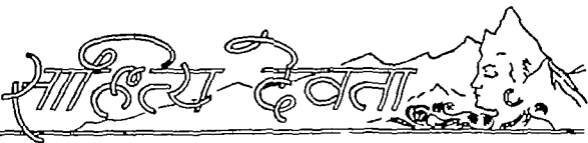
साहित्य-देवता

उस समय शान्ति का गर्भ करनेवाला अम्बुधर काँप उठेगा और अपने निरीश्वर-पूर्ण हृदय में ईश्वर के अनुराग का आरोप कर अम्बरना करेगा—न हो, न हा यह अबिक समय तक । ”

रात्रि रूने की घुटेदार साड़ी पहने कान्तिकारिणि देवि, तुम्हारा स्वागत कर रही है । यह तुम्हारी उबल-मुसल में बैचम्ब की भी सोमाम्प समझने के लिए प्रस्तुत है यदि पुनः प्रमात की आकाश किरण आकर तुम्हारे बन्दीखाने के द्वारों की लोले ।

“ ता जो, क्रेमलता से बनी मेरी सहस्र-सहस्र कर-मात्सर्ये अपने कूरतम रूप में समर्पित है । कलकवटी की होड़ लेनेवाला कलरव अचटन बटनासूचक कोलाहल के रूप में है । अब धदा भी गुमराह न कर पावेगी, पीरल भी काफ़ न बाल पावेगा । अब अपने चद्र जैसे प्रकाशित पूत्र की बलि के मूल्य पर भी उपा कर स्वागत होने ही पर मे अपने राख रखूँगी । ”





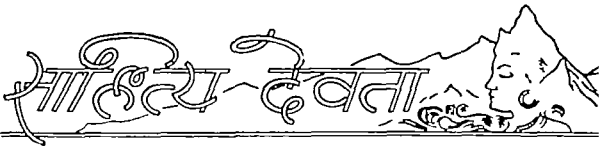
अंगुष्ठियों की शिखरों की छाँद

साहित्य का उचित स्थान यह इन्द्र है, जिसमें पीढ़ियों और युग अपने विश्वास की बरोबर की तरह खिया कर रल सके। ऐसे इन्द्र ही में कला का उदय होता है। हम तो 'कुक न' करने के आदी होते हैं, और 'न कुक' की सम्पूर्ण मानकर उस पर गर्व करने लगते हैं; तब यही माप हमारी कला का भी क्यों न होगा। पुण्य की सुन्दरता और सुगन्ध से मतवाला इन्द्र उसके लता या वृक्ष की पूँज-तोंज करता है; और कला से प्रभावित अर आसक्त व्यक्ति उस भाति की पूँज-तोंज किया करता है जिसमें कला का ने जन्म लिया है। आगो, दीवारों और पत्थरों पर तो सपने उतर जाते हैं; उनकी आकृतियों और आकर्षणों ने वहाँ जन्म नहीं लिया। उनके जन्म-स्वप्न का यशोदा की गाद तो है,—हमारी कसमसाहट का बोझ सँभालनेवाली वह इहवा, जिसकी सुलग से अनन्त जीवनो की एकत्र पित्त-गारियाँ एकत्र में उतर पड़ती हैं; और लाहे से बा बालों से बनी कलम का हिला देने पर किसी भाति का उल्लास, विश्वास, वेदना और बलिदान बनकर वह कला परवर बा दीवारों पर उतर आती है। उस समय कलाकार 'सोऽहमस्मि' कह उठता है। वेदान्त की देतीली बाणी में नहीं। उसकी अपनी बाणी होती है—

' प्रेम यही बति सोकरी, या में दुह न समीप ।

'से बेचूँ तो 'बहु' मरूँ, 'बहु' बेचत में' नाक ॥ "

किन्तु जो वेदान्त के सोऽहमस्मि के आडम्बर की सह भाते हैं, वे पिय के इस स्वरूप-दर्शन में सी-सा दोल निश्चलते हैं।



पुस्तकों में और उनके नियमों में जिस तरह प्रभु नहीं रहते किन्तु युग की सीमा-रेखा बननेवाले व्यक्तियों को देखकर—उनके चरणों के पिछों को रूँद रूँदकर पत्थों के नियमों का नियमन होता आया है; उसी तरह पत्थर, मिट्टी और चूना पर किये गये कौशल, कलाकारों का निर्माण नहीं किया करते, अपने अन्तर के 'मनमोहन' की विलसन ही, उन पदार्थों पर कलाकार कास पाते हैं।

विद्वियों की चहक, पुणों की महँक, कलियों की मुसकराहट सतपुड़ा के शिलरों की बेजोड़ हरियाली होइ, और उस पर वेतपा नदी का कमी कंकण, कमी किक्किशि और कमी नूपुर बन जाना और नर्मदा या ताप्ती का कमी क्यठहार, कमी करपनी और कमी विष्णु-पदी बन जाना और गंगा, जमुना, इरावती और सिन्धु का हिम-किरिट से निमगा सिद्ध होना ही वे स्थल हैं, जो कलाकार की संघित कोमलता का गुदगुदाकर, इन्द्र-भनुष के रंग उस पर पढ़ाते हैं; और अन्तर का पानी अँतों से उतरकर, सपनों को सजीव करने का द्रव्य प्रस्तुत कर देता है।

कलाकार हजारों वर्ष पुरानी पतिहासिक दूरी को अपने अन्तर की प्रत्येका से इसलिपि नहीं छूते कि वे भ्यास और पाल्मीकि का, होमर और अरस्तू का युग पुन निर्माण कर दमधाले विधाता बनना चाहते हैं।

“उतरे हुए जमान की, जीवन में उतारने के करण, इन उतरे हुए आमों की तरह, उतरा हुआ जीवन बना लेते हैं; और जप हमारी कला उसरी हुई पीढ़ियों का निर्माण कर देती है, जिसमें परिस्थिति की पक्ष मालाओं पर चढ़न का बन नहीं जाता, तब इन सतह से बहुत नीच की कला में स्वयं फिट कर भी जगने का सातवें आकाश पर अनुभव करते हैं और अपने द्वारा निर्मित हालवाली पीढ़ी का नगण्य कदकर कासने लगते हैं।

साहित्य-देवता

किन्तु नवीन पीढ़ी तो युग के कलाकार के ही आकलन का अपराध है।

कलाकार तो मूलकाल को, मुद्राहले मूलकाल को भी, अपनी अन्तर की भाँति की छोरों से इसलिए छूता है कि वह शक्ति मर मूलकाल की गहराई माप कर अपनी आकांक्षा का एक माप बना ले और उसको उठाकर जब वह मविष्य की ओर रस दे और उससे कुछ आगे अपनी कला-चिन्तुओं की सीमा सींच दे तो विश्व में, युग से होकर लेती हुई उसे अपनी एक अमर पीढ़ी दिखाई दे।

यदि इरादों पर पहुँचने में रेल के टिकट खम आ जाता करते, तो कला के स्वर्ग की हम परबरो और कलाओं से छू सक्ते थे।

स्वप्नों का पकड़ने का पम वा अन्तःतर क स्वप्न-वेश ही में से है।

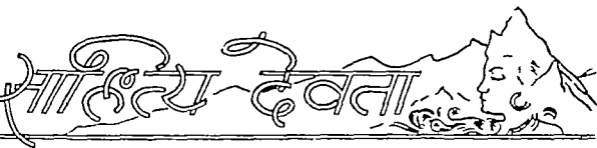
हवाई जहाज पर चढ़कर जिस तरह हम हिमालय, हिम्या और सत पुड़ा की उँचाई निचाई से परे हो जाते हैं और उच्चता की एक-रसता में, एक-रसता की उच्चता की दुनियाँ में पहुँचकर, उसे पार करते होते हैं, उसी तरह जब हम अपने स्वप्नों के आगच्छ में होते हैं तब हम अपनी पीढ़ियों के ऐसे ही वायुमय बन जाया करते हैं।

कला की पीढ़ी अँगुलियों की गिनती पर हाती है। गन्ना से छप्पा की दूरी ही की तरह एक शरीर की दूसर शरीर से दूरी होती है, किन्तु उनके इरादों के 'अपनी पर जाने' का सेटु बँच जाने पर, बमामा क-भमाना, इस पार से उस पार, और उस पार से इस पार होता रहता है।

उस कला का वाहन, कलाकार का विहायन चिह्नकाने रहनेवाला शरीर नहीं है, न उसका वाहन विलास है, न उच्छास, न सिक्क है न मुसुक।

अँगुलियों की गिनती की पीढ़ी ++

साहित्य-देवता



उसका बाह्य वा वह प्रेरणा है, जिस पर वह अपने सम्पूर्ण श्राद्धों और स्वप्नों को लेकर बैठ जाती है, और तिस पर भी वह समय की दाढ़ से भागे बड़ जाया करती है। समय के साथ रहने पर सा सूरज और चाँद, अपने प्रकाश से उसे हराकर, बड़े बम जान के अधिकारी हो जाते हैं।

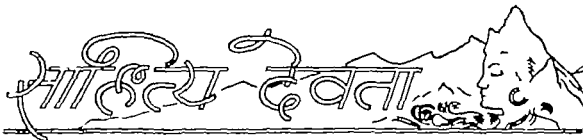
इच्छिप कलाकार राहगीर का समय बाँटने की बन्धु-भात्र नहीं होता, वह समय का पथ प्रदर्शक, राहगीर होता।

कलाकार कैसे जान कि उसका आराध्य उसका अपना है? विश्व निर्माता ने उसे अपनाया है। निर्माता की तान में अपनी तान मिला जान की पहिचान तो यही है न, कि मक-भावन की तरह मक भी निर्माता है। तभी तो मानव दम्भ की कुटिलता और प्रशंसा की अटिलता के परे, 'साऽहमस्मि' के कुछ मानी रह जावेंगे।

निर्माण जिसका बचपन हो, निर्माण जिसका अभ्ययन, निर्माण जिसका चिन्तन हो, निर्माण जिसकी कमाई, और निर्माण ही जिसका आँदासीन्य और आनन्द हो, विपाद और विनाद हो, तब निर्माण ही उसकी चिरसमाधि क्यों न हो! उसे निर्माण की समाधि न कहेंगे, वह तो पंचल का प्राण होकर भी, समाधि के द्वारा, पीढ़ियों में, प्रस्था के रूप में जीवित रहनेवाला निर्माण ही कहा जायेगा; निर्माता की जिम्मेवारी पूरी करनेवाला, निर्माता की वह अपनी आज्ञा होगा।

रौद्र उरुधान के अमान और पतन की पराधम्या से भरा जानेवाला हमारा पेट, जीवन के प्रकृतीचरण की भूय अनुभव ही नहीं करता। किन्तु जो इस भूय को अनुभव करते हैं, उनका एकात्म, अस्तित्व की वस्था है और उनकी निरुद्धी पहिचानों कला के अस्तित्व का साक्षात्प्राप्त है।

साहित्य-देवता

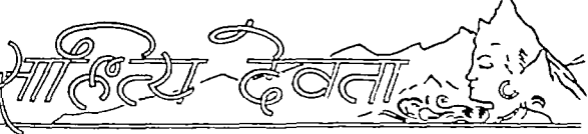


फुरसत की भड़ियों कुछ लोगों की सनक की भड़ियाँ हैं, कुछ लोगों की लाचारी की भड़ियाँ, कुछ लोगों की आहिली की भड़ियाँ हैं और कुछ लोगों की नाश की भी भड़ियाँ हैं। फुरसत की भड़ियाँ, और वैसी ही फुरसत की भड़ियाँ कला के अस्तित्व की भड़ियाँ हैं, कला के विद्रोह की भड़ियाँ हैं, कला के तिलकाङ्क्ष की भड़ियाँ हैं। वहाँ कला पुरुषार्थवती होती है, और पुरुषार्थ कला के विप्री का रंग बन जाता है।

दौड़-धूप के देवताओं, कहीं इन 'निकम्पों' का भी जीने दो। रेलगाड़ी के पबिको, संकल्पों के आने-जाने के लिए भी थोड़ी ज़मीन छोड़ो।

'बे फुरसत' की विदगी में, कलाकार, विरह को देखने, देखते रहने, और देखते-देखते घुम देखते रहने के लिए झौंले और आत्ममग्न से पाँच कर रक्खा जाता है। उस समय अपने को और अपनेपन को देखने का अपने को नहसाने और सुहलाने का वह अवसर ही नहीं पाता। फुरसत की भड़ियाँ, कलाकार के अस्तित्व की आराधना है, आराध्य की पूजा है, आराध्य की अन्वेषणा है। वे उसके आत्य-संकीर्तन की नहीं, विरह-संकीर्तन के लिए आत्म-दर्शन की भड़ियाँ हैं। उस समय उनकी लुझी आँखें मुँदे जगत् की गुलियाँ सुलझाया करती हैं; और मुँदी आँखें, लुझे जगत् में विरह के परम सत्य का रंग भरती रहती हैं।

उस समय वे झौंले जिस लोक को देखती हैं, उस लोक में उस कलाकार और उसकी कला को भी देखती हैं। उसकी सेवा और उसकी तैयारी को भी देखती हैं। उसकी कमबोरियों और उसके पतन को भी देखती हैं। वह अपने उखान से, उत्थान के शेष रहे हुए पथ की दूरी देखकर, अपनी नम्रता और अपने भीरव को समेटता रहता है; और अपने पतन को



देवद्वार उत्थान की श्रमारी क्षणों मारने के लिए, बनों की आत्मा से, बल की प्रार्थना किया करता है ।

एकदम जीवन का भवकथरा कलाकार का वह मन्दिर है, जहाँ वह अपने का 'अकर्मण्य-कर्मण्यता' के नास्तिक बन्दी-ग्रह से बाहर निकालता है, और आकाशाओं की मूर्त बनाता है, चिन्तन पर रंग चढ़ाता है और इस तरह अपने मूक वेमण को कलम पर उतारकर विश्व में भेजता है, कि भित्ति देवद्वार पुनियों की शत-शत सूत्रों कापाल ही उठे ।

मला, ऐसे समय यह कैसे माना जाये कि कला का अनुवाद भी होता है, उसकी नकल भी उतारी जा सकती है । इच्छाओं के आदर्श का अनुवाद । आदर्श की इच्छाओं की नकल ।

कलाकार का जीवन हेत में अरेत और अरेत में हेत की अनुभूति होता है ।

जब कलाकार अपने अन्त-चिन्तन में उतरा होता है, तब वह कला पिता के बोधि मरे उल्लास से आभूषित और कला-माता के प्राण-मय पोष से धोमीला होता है । किन्तु जब उसका चिन्तन उसकी अन्त-म पर उतर आता है, तब वह अपना ही कला-पुत्र होकर विश्व के अन्तर की सुक्रेमल गोदी में खेलता रहता है ।

बाह की तात्रता और चिन्तन का माधुर्य, ये दोनों ही तो वैज्ञानिक संघर्ष की वस्तु हैं, जिनसे बटल पड़नेवाले प्रकार का अपने मिष-मिष रंगों के रफ से गीला कर, अस्तित्व की अँगुलियों के द्वारा, विविधता के पत्र पर, कलाकार, विश्वनियंता की, अपने मनमोहन की, छोड़े तसर्षीर रीचा करता है । जिसका आराध्य हर चीज में हो और पहुँच की तीव्रता

साहित्य-देवता

के माप से वह अपना हो, तो कलाकार की आँसों और अन्तर के प्रवेश के लिए, प्रकृति का सारा समय और लहरों का समस्त भंडार, कलाकार के प्रवेश के लिए अपने अन्तर का द्वार क्यों न खोल दे !

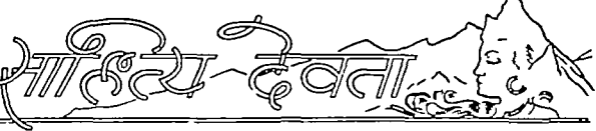
कलाकार की अँगुलियों की अस्मत्त लिखावाड़ों तक में एक मनुहार एक अविश्व एक वेदना एक मर्दकी और एक बेचरी होती है। वहाँ, उस मच्छीकरण के समय उसकी अँगुलियाँ उसे अपने आराध्य से करीब अधिक मीठी मालूम होने लगती हैं।

किस गोद के लिए कला दीखी जाती है ? उन आँसों के लिए जो कल्प कला की समता और समता की कल्पकता का अनुभूति के माप से अन्दाजा लगा सके। उस जानकारी की गोद पर, जो कला की आकृति और प्रेरणा को, मुँदी आँसों से देलकर शिल्पी के लुत्ते हृदय का आकलन कर सके और तुली आँसों से देलकर, स्मृति को विस्मृति के हवाले कर, कलाकार की वस्तु में समा सके।

कलाकार क्या है ! वह अपने युग की स्मृति के मध्य के रंग में वृषी मगमान् की प्राधान्य प्रेरक और कल्पक ऊँची है।

उसके स्वरों में रंग होते हैं, उसके रंगों में स्वर होते हैं। उसके विषय की आत्मा सर्वाथ होती है। मंचों पर दिलाये जानेवाले नाटकों की तरह उसे समझने के लिए, सास पड़े-लालों की फ़टन ही की प्रत्यक्ष नहीं होती। बिल्हे स्वयं समझने की बुद्धि है, उनके पास कला का मूल्य है। जो मुसकुटाइट और बेचनी को समझ सकते हैं, वे कलाकार को समझ सकते हैं। जो जीवन और मृत्यु को समझ सकते हैं, वे उस समय कलाकार की माया को पक़ा सकते हैं।

बिल्हे देलकर कलाकार अपने आँसुओं और उल्लासों को विप्रित किया करता है, वे जाहे कल्पकता के सत्य हों, पर कलाकार के लिए वे सत्य की कल्पकता हैं। उन पड़ियों का संभव ही, कलाकार का सम्पूर्ण जीवन है।



छलकन गगरी

तुन सु-वर्ण पर खलके न भे । बाजार दर की जेबाई ही इसका धारण
न भा मुम्हे तो ठंडे पानी की चाह थी । मिठी की गगरी इच्छित ता लाये ।
सावधान रहो, नहीं तो इसमें दरार पड़ जायगी । इसकी दरारें बुझा नहीं
करती ।

पर यह क्या आकाश है । इसकी छलक से तुम्हारा अंगर नीच गया
है । पासु धरमराहट देख कर अपने अमिमत से विस्तृत किये दे रही है । और
छलकन की आवाज से, धीने-धीने बालनेबाल, आराम्य की ध्वनि, तुम्हारे
कानों तक मही पहुँच पाती । क्या गगरी का मुँह बन्द कर दिया जाय ? पर,
स्वर-से-स्वर मिलने की विस्तृति में, जब तुम्हारा मस्तक मुक पड़गा, तब
पथरीला हृदय प्रियतम के चरणों पर किमल पड़ने का मय मही है ।—तन
किर ! हाय, गगरी बड़ी दुष्टा है,—इसे कहीं से खरीद लाया ! दो दमड़ी
की चीन् ! उभली, कल्टी, दर-दर पर लुङ्कनेवाली, घने ही अद्भुत और
दुराते ही दृक-दृक ॥

क्या सचमुच ?

और यह चीम, जो गगरी को खेच रही है, स्नि मुहरो के मोल
खरीदी थी ? क्या इसके घने ही अद्भुत का प्रण, तुम्हारे सतीस क आठम्बर

साहित्य-देवता

से कम उज्ज्वलतर है ! और क्या सौंक्लापन ही इसका समसे बड़ा अपराध है ! क्या इसी अपराध की अपराधिन पुतालियों में सुबियों छेद दोषो ! क्या वह इतनी ओझी है ! क्या इसमें अमानेवाली बल की अँतुलियों की अपेक्षा, तुम्हारे हृदय की मटकी में भाँसुओं की अधिक अँतुलियों अगाली है, —क्या तुम्हारी आँसों के परदे के नीचे, इसकी अपेक्षा अधिक हैं दे, —मिथसवाली !

* * *

और तुम बिड़ किसलिए पड़े !
 झलकने से ।
 किसपर !
 गगरी पर ।
 क्या झलकने के अपराध का उचरदानित उच पर है !

* * *

क्या बिछ कुर्रें से इसे मर कर लावे, गहरा भा !
 क्या तुम्हारे गुन कमजोर न थे ! उनमें बल का कि वे बल का बोझ सम्हाल कर, कुर्रें का तरल अन्ताकरख लीच लाते !
 क्या लीचते समय तुम हौंक नहीं गये !
 तब गगरी अपने आप कैसे मरी जाती !
 और अब तुम्हारे गुन, मरी गगरी लीच न सके, तब गगरी अपबल न रहती तो क्या करती !

साहित्य-देवता

क्या तुम्हारी यह जाह है कि यह अबजल मले ही रहे, पर
झलकेनही ?

* * *

और बेदे दमड़ी की इस गरीबिन का क्या कोई खान नहीं ? पीप में
जब तुम्हारे मस्तक पर जन्दन चर्चित होता है, जब तुम्हारे लस के पदों पर
गुलाब की सीप होती है, जब तुम्हारे जन्दन में कपूर सहर लेता है, जब
तुम्हारी सारी देह परक पदे हुए होज में किलोल करती होती है और
बिजली का पंखा घूम-घूम सारी चर्चली चामु घटोर कर, तुम्हारे चिर दे
मारता है और भरबराइट पेदा कर देता है उस समय तुम्हारे अनामरप
में भाग कौन लगा देता है ? क्यों तुम, गिरपतार रीत की गोद से भी
'पानी पानी' की पुकार नचा बैठते हो ? जाह ! क्या तुम उस बेदे दमड़ी
की उपेक्षा कर, मुहर की मनुहार करोगे ? क्या उस भाग के, — तुम्हारी
प्यास के—गुलाब का सुगन्धित रस बुझ सकेगा ? कर्पूर की बरसात
कम कर सकेगी ?

* * *

अरे,—और, तुम्हारे मीजने, परबराने, और शियतम की बातों की
मिठास में, झलकन की ज्वनि के विम डालने ही तक तो बात नहीं है ।
आधी रात में जब समर्पण के जागरण में, पानी-भर-मानी की मोंग होगी, तप
अपजल गगरी का ता तुम दोनों दिवाला काड़ धिठगे ? क्या आराप्य की
पानी के लिए तड़पाने का अपराध इस अपजल गगरी ही का हागा ? क्या
नहीं धामते कि गगरी झलक-झलक कर तुम्हें भिजो रही, तुम्हें बरपरा रही

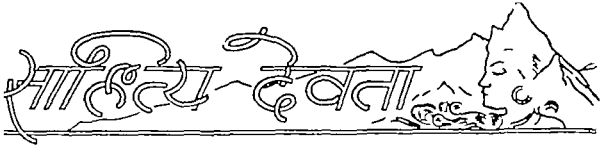
साहित्य-देवता

और तुम्हारे प्रत्यक्ष-संपाद में बिना बालकन पील रही है कि मञ्जुत गुन से,
गहरे कुर्रें में फिर से बुझोकर, मुझ "अचञ्जल" को पूरी मर लो, सुकरन-सी
कूर नहीं, हृदय-सी मात्रु क हूँ। सैनास कर, पयरीले कूप के तरल अन्तःकरण
से मर ले।

* * *

विहासन और मुकुट, तीग और तोप विम्व और बरदान विरिठ और
कोरीन, शस्त्र और शस्त्र, किससे यह बेद दमकी की बस्य त्वागी गई ?
पबिद्ध इसे मर ले द्यवज्जने न दे। इसकी कृष्ण के दिवाले में पीकिर्वा
बरबाद होती आई है।





शुद्धक्रिया

मृदगधातक—

तुम किन मपुर घालते हा मृदंग ! किने मस्तक तुम्हारी मस्तानी
धुमक पर नही धूम उठते ।

पर मेरा दुर्भाग्य देखो । अभीशरी की आत्मा है कि मैं तुम्हारे बदन का
घातों और से घातों और बाहुओं की तरह घषि हूँ ।

अब लाग तुम्हारे स्वर पर मस्त हान के लिए अपने आपका तीषार
बनाते हैं; तब म तुम्हारे धन्वनों का कस-कसकर सीपने लगता हूँ ।

और यह जानकर भी कि मेरी अँगुली मारते ही तुम चीस उठते हा, मैं
तुम पर प्रहार-पर प्रहार करता चला जाता हूँ ।

क्या कहा—मैं निदय हूँ ? मेरे प्रहारों से तुम्हारी मजूर म मेरा मूल्य मल
पट आय, किन्तु 'भीर-धनि' म विरष मे तुम्हारा मूल्य पटा दलकर जीविन
नही रह सकता । मैं यह जानता हूँ कि तुम पर कम गुन, तानकर स्वीष
हूँगा, ता तुम्हें स्वर-समाधि दन का पाष मुक्त लगगा । फिर ता, राजरामी
का स्वर-सहरो पर चढ़कर, समाधिस्थ हान का सारा व्यापार ही पिगड़
जायगा । तुम्हारी विर-समाधि का पदपन्न अब म रबूँ, तब मैं शलपारी नही
रहता ; इत्यारा हो जाता हूँ । किन्तु यदि तुम्हारे गुनों का, तुम्हारे विरष
धन्वनों का बीना छाड़ दता हूँ, तो तुम्हें अस्तिव रसकर अस्तित्व म रसन
पाला पना दता हूँ ।

दीली-कारों में सेहत ? यह तो तुम्हारे गौरव के लिलाफ, तुम्हारी क्रिया
शीलता के लिलाफ तुम्हारी महत्ता के लिलाफ, साबकर सजाव हुण मीम

आर्ति-देवता

अ रास लेख किश बुझा विद्रोह है। क्लेश-तने तुम्हारे मस्ताने जीवन पर रास जलाऊँ ?—तो मैं अपनी आर्ति-सहीनता प्रकट करूँगा।

तब लाओ, मैं एक सुर उठाऊँ। लोह का बना हो, चाहे बालों का, चाहे बास का,—उठाऊँ, और सारे दीखे और सड़े बन्धन काटकर फेंक दूँ।

बस फिर, जिन बन्धनों से स्वर जुड़ेगा, जिन स्वरों पर बन्धन बँधेंगे, उनकी ताल कितने ही हृदयों पर बिरक उठेगी। और जब 'अर्हीर की ओहरियाँ' प्रमात-मैला में, तुम्हारी तान पर झुरबान, श्यामसुन्दर से रार टानने आरंभगी, तब श्यामसुन्दर, अभीरुवरी के आँगन में बैठकर विश्वविमोहिनी बौंसुरी बजाकर तुम्हारे—हाँ तुम्हारे स्वर में स्वर मिला देगे।

तुम्हें अनेकरी ने अपने स्वर से स्वर मिलाने का सीमात्म प्रदान किया है, किन्तु मेरे हाथ में दयद-विधान सौपा है, और उनके स्वर का रूप रत्नकर, तुम पर प्रहार किये जाने की आज्ञा दी है। बोलो, तुम पर हिमायत कर, तुम्हारे गौरव के लिलाफ शरद करूँ, या तुम्हारे गौरव की तरुणार्द्र में रात रात मलाफों के साथ, मैं भी तुम्हारे स्वर पर मुक जाऊँ ?

प्यारे, मैं अपराधी हूँ। मैं महारो हूँ, अत्याचारी हूँ, शत्रुचारी हूँ। मैं तुम्हारे कमबोर बन्धनों को काट देता हूँ, उन्हें सरल, तने हुए, बना देता हूँ।

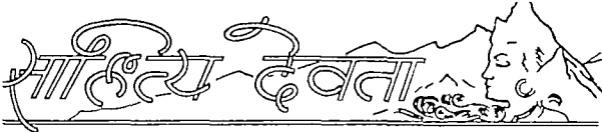
२

कुरक—

य फिरक आने है। कैसे बरसते हैं—रिमकिम, रिमकिम। क्या ये कुरक की वेदना पर बरसने आये हैं ?

'हरी हरी' पुकर कर, कुरक ने 'त्राहि' मचा रली थी; ये श्यामसुन्दर

शरदक्रिया ++



आगे और ऊपर की राख-रामला 'हरी-हरी' कर दी। ये काले बूँदें उजली, और मूमि हरी। यूकिल्ड के किस नियम से यह पहली तुलनाये तुलने।

यह देखो इस तरफ उस तरफ आगे पीछे दामें बामें केवल हरी-हरी की धुन बँच गई है।

और यह लो में उठा। मैं तो इस बेबोड़ हरियालेपन का संहार करूँगा। क्या तुम यह कहोगे कि मुझे अमृत-पिन्दुओं से प्यार नहीं। हरीतिमा से दुलार नहीं।

आराम्य तुम जो कुछ देते हो उसका अन्त मही रहने देते। तुम्हारे सहस-सहस करों से घोंटी हुई ऐरात दो हामबालों के कणू की बच हो।

तुम देते कहीं हो, तुम तो बरस पड़ते हो। इसीलिए प्रकृति तुम्हारी देम की लेकर देखो किस तरह नदियों नालों सरोवरों और सागरों में बँट रही है। वह अस्तरत का अमृत मूमि पर रहने देख तुम्हारी अपार कृपा का मखार तुम्हें खिर-समुद्र में बापस कर देती है। प्रकृति को पानी बापस करते देत, मुझे भी अपना कर्त्तव्य सूझ उठता है। मैं गी हल उठाता हूँ और सारी हरियाली तोड़ डालता हूँ। नन्हें बन्धे लीम उठते हैं कि मैंने उनका हरा गालीचा तोड़ डाला, हरी बुनिया बिगाड़ डाली। किन्तु मेरी कुटिया की रानी, मेरी ओपड़ी की परमेवरी जानती है कि मैं बसुन्धरा के पेट में ही सती सीता का निवास है। वह मुझसे कहती है कि, पेट पर पड़ी चौप-बौबकर, हमने विद्वंभर के दिवे हुए जो अन्नकण, जो खाने के मोती, बचाकर रखे हैं, उन्हें विद्वंभरा का पेट खीरकर, सुरक्षित रख दो।

साहित्य-देवता

मातृ-शक्ति कई गुना करके हमें खीटा देगी। विरव-रक्षा के लिए, विरवमरी के पेट का दूध, वृष्टों के कन्द-मूल फल ही से पड़ता है।

मैं घातक। हल उठाया, और पूष्पी का पेट चीर बाँधा। और यह ला 'सादे, शाहबादे' कपास के पौदे उगा आये। पर मैं फिर भी नहीं उठरा। मैंने सुरपी उठाई और कपास के साबी-संगियों का संहार कर डाला। रामद्रोह की घञा पाये हुए 'ए' कपास के झेदी की तरह ने तूल-तल्लर अकेले रह गये। हरियास मरी अँलों न छोसा—निप्पुर, सारी हरियाली बिगाड़ दी। कपास के पौदे भी पीछ उठे, उनकी बड़ों भी तो भक्कर ला गईं बी। वर्षा, शीत, धाम बदलि करने के लिए उतारू, समों-सा उबला कलेबा लिये रहनेवाले 'गुणों' के पिता तथा अपने गुणों से, दुःशासनों से, भीषा धारिणियों की लज्जा बपानेवाले, कपास को तो मैंने दुःख न दिया होता। परन्तु, मेरे प्रहार उनकी करण-सेवा थी। मैंने अपने प्रयत्नों को माटी में मिखाया और कपास के आसपास सुरपी का शत्रु चलाया। अहा, शत्रों की वही प्रहार-डेरी, कल्लों की प्यार-डेरी बन गईं।

नाम सुन्ने तो हमने शक्यकारी होने का शपथ दिया है, न बाने क्तों !

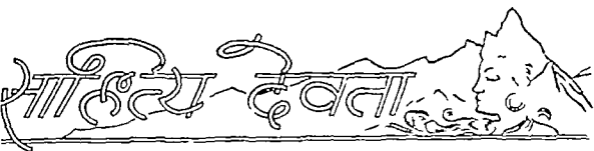
3

मायाकार—

केली बद्धिया फुलकारी है। गुलाब है, फनेली है मनुमासती है—गरीब हरसिंहार भी है। दूर से जब बात दीलता है, सुगम्भी की आशा का उदय कर देता है। निष्ठ्र आने पर, सुगम्भ लहरामे लगती है। किन्तु वह मन्दम कुछ अगोस्ता है। यहाँ, अपने को व्यक्ति को गये है—

शरत्क्रिया ++

३४



जमाने की जमीन पर। श्रीधर पाठक के शब्द उधार लें तो मयार्थ में 'बाह्य भ्रमरन को भोकु' और 'यही कहे रहत पुरन्दर'। बाल्मीकि से लगाकर तुलसीदास तक और राम से लगाकर छत्रपति शिवाजी और राणा प्रताप तक सब यही रहते हैं। व्यास यही है, बाल्मीकि यही है, कपिल यही है, कणाद यही है राम यही है परशुराम यही है, धृम यही है, महावीर यही है रघु यही है, दिलीप यही है इष्य यही है, विदुर यही है नारद यही है सरस्वती यही है, सीता यही है, द्रौपदी यही है, प्रताप यही है, शिवाजी यही है, छत्रसाल यही है, अकबर यही है, कबीर यही है, मीरा यही है सूर यही है, शैतन्य यही है, रामतीर्थ यही है, लखनराम यही है, रामदास यही है। इस जमीन का एक तरह की उलाहना कि अनक मनस्वी उठकर भाते करने लगेंगे। इनकी हड्डियों पर हम नन्दन बनाते चल रहे हैं।

मेरे मन्दन के राखडहर उलाहना तो विश्व के बहुत-से लोग आते हैं; वे पत्थरों की जड़ों से खनारूँछी करते हैं और सड़े हुए माखपत्रों की पूजा करते हैं, किन्तु ज्ञान के मेरे मन्दन की आर वे आँग उठाकर भी नहीं दासते।

रुख, ईग्लैंड, फ्रांस, बेनमाक और भय आपान आदि में, अपने साहित्यिक माइपारे की मेंट का मेला लगा रक्ता है। किन्तु पच्छिम प्यारी प्रसाद और निहालसिंह को झाड़ दे, तो मेरे मन्दन की आर खड़ दासता ही नहीं।

मेरे मन्दन के पूल, विश्व की हाट में झाड़ नहीं ल पाते। इन पर मीरे घूम लते हैं और वे पाई-से पूल भी लते हैं; किन्तु विश्व की आकर्षकता और बाह्य का आधार मेरा आर का मन्दन नहीं बन पाता। तिस पर भी

साहित्य-देवता

क्या तुम कहते हो कि मैं छुरा हाथ में न लूँ ! अपने कुदाली-मगबड़े न सेनाशूँ !

ना, मैं नहीं मारूँगा । देव ! तुम्हारे परियों पर चढ़ाने जाने के लिए, जब मेरे बाण के फूल स्वीकृत ही नहीं किने जाते, तब बाण के इन बोम्बों को मैं बाण में रहने दूँ !

मा मैं हरियाली का हत्यारा कहलाकर भी बाण की सभ हरियाली अपने बाण से लोद बहाऊँगा । मारूँगा नहीं ।

मैं अपने होसलों और गोरबपुष्टों को मिट्टी में मिला दूँगा किन्तु हर पीधे का सम्पूर्ण रूप से अपनी पर जाने के लिए वाप्य करूँगा । जो मिट्टी में मिले 'दाने' परिपूर्ण तात्पर्य की उमार में न आचार्ये उनकी बालियों काट-काटकर इसी मन्दन की खाद बना दूँगा । मैं तो इस बाण की रसा में रस लाने के लिए अपनी हड्डियों की खाद दे दूँगा, इस बाण के दाहिम में दर्द का-सा खाद उत्पन्न करने के लिए जुग की अस्थिमा तक की खाद दूँगा ।

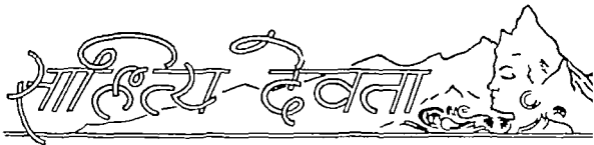
तुम इस समय मुझे रोकते हो ! मग्ने कण्य गालियों दे कि उनके लिसौन मैंने मिटा दिने, परन्तु मैं उम गालियों के मय से छुरा रस दूँ !

जिसकी आँसों में माषी का हबारा-गुलाब भूल रहा है वह कबिने लगे गुलाब की कानी कलीबाली बालियों पर मयता कैसे करे !

मन्द-मन्दन ! जब तक मेरे अमरुदों का अमृत अपनी पर न आवै जब तक मेरे गुलाबों का गरव पंलङ्गियों की बबानी को छोटों पर गूल-गूल कर इन्हार न करने लगे तब तक मेरा छुरा मुझसे कहीं दूर हटा ले !—अभी मैं किसकी मारूँ !

रबामचन ! तुम्हारे बरसने के पहिले मैं हरियाली की अमरता और मल्ली

साहित्य-देवता



के तिलाफ, परम्परा से विपक्व, पतन के विद्रोह के तिलाफ विद्रोह पर मुझी हूँ, सब बालियों को एक-एक कर फट डालूँगा। उनके भास पास घँटे ही बर्तूँगा; उनकी बड़ों पर चीबड़ ही डालूँगा, उन्हें सुरज में मुलसने के लिए सुला छोड़ दूँगा। मैं नन्दन का हत्यारा नहीं, माली हूँ। मेरा मन्दन मुझे नन्द-नन्दन से भी अधिक प्यारा है। मैं पत्तियों के साथ लहराता हूँ, कलियों के साथ चटखता हूँ, फूलों के साथ खिलता हूँ, हवा के साथ मेरा मस्तक फुक पड़ता है, उष्णता के साथ मेरी साथ कुम्हला जाती है और भोस-कण्डों के साथ मेरी झँलों में भी भौंसू आकर मेरे बाग के पौदों के उमार के आनन्द का मार बनते हैं। हत्यारा, मन्दन-नाशक, मुझे उस दिन कड़ना, बिस दिन में, अपनी कैची छेक दूँ, बाकू तोड़ डालूँ, कुदाली निगाड़ दूँ, और फण्डा हटा दूँ। उस दिन निस्म-देह अपने नन्दन को, पीहड़ जंगल बनाने का अपराधी भरस्य दूँगा।

प्यारे अमर, मैं खहार नहीं मुझे तो मरे प्रसु ने, म्हाकाकर हाने का राय दिया है। मुझे खिन्दगी भर बहो बने रहना है।

४

उपचारक—

कैसा सुन्दर शरीर है, कैसी उपमागी दह है। रसो की शस्त्र-क्रिया करनेवाली मे, इस बेचारे पर, नायक और नायिक्येद के कियने नितान नहीं ताने। अद्र-बदन, पिक-बयन, कंस-नयन, शुक-भासा, तरज यह कि अनेकी देह पर कितना तमारा नहीं राड़ा किया। हमार आकर्षण का मेल, कवियों के शब्दों के रोज में, अब ठीक बैठता है, तप हम बेचारे शरीर पर, न जाने किस-किस महानता का आरोप करने लगते हैं।

साहित्य-देवता

किन्तु जब शरीर की अँतों में कोई रोग हो जाता है जब बदन में कड़ी फोड़ा हो जाता है, तब ?

यदि मैं तुमसे प्यार करूँ तो तुम्हारे फोड़े से नहीं कर सकता। क्या तुम्हारे धातक से ममता करके, तुम्हारे अस्तित्व से हाथ पीछे ?

ऐसे समय, झुरा हाथ में रसकर, मैं तुम्हारी मर्जी पर मस्तक झुलाऊँ या तुम्हारे अस्तित्व को मस्तक झुकाकर तुम्हारी कमबोर बहियों की चाह और कराह का भान मूल जाऊँ ? यही समय होता है, जब मुझे रोग और उसके उपचार पर अपना निश्चित मत बनाना होता है।

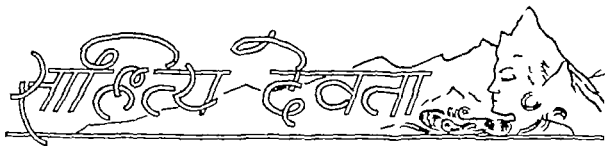
और मेरे लिये हुए अस्तित्व का नाम है, प्राण-रक्षा के लिए अपने को सुतरे में डालने में न हिचकिचातेवाली निर्णय-शक्ति, और कर्मम्य प्रतिमा। जब विश्व का विज्ञान, आनन्द और अस्पष्टता होता है, मेरा विज्ञान होता है, उचित निर्णय और उसका साहसपूर्वक वर्णन। यही साहसपूर्वक उसे किमा में उतारना। तभी मैं हज़ारों के प्राणों के साथ खिलपाड़ करने का हक रखता हूँ।

यदि ऐसा न करूँ तो मैं बधिक हो जाऊँ। मैंने इत्साईखाना नहीं खाया, मैंने प्राण प्रदाता गौरव-मन्दिर लोसा है।

देवता और दानव, सब अपना अस्तित्व लिये मेरे पास अपने प्रकृत रूप में रहते हैं। यह सब है कि सदा ही मेरे हाथ तक से रंगे होते हैं, मेरे कपड़ों पर दुर्गन्धित द्रव्य पड़ा होता है, कमी-कमी मुझे भी रोग के बीटाणु लग जाते हैं।

हाँ यह भी सब है कि जब मेरा झुरा कोई हथारा उठता है, तो यह ईसा की सूनी चढ़ा देता है, मन्सूर को फँसी दे देता है और मीरा को

साहित्य-देवता



बिप अर प्याला पिलाता हे । किन्तु जब मेरा छूटा मेरे हाथ में होता है तब तो प्राण-सम्भार ही होता है । क्योंकि मैं हत्यारा नहीं हूँ, मुझे तो युग के प्रभु ने केवल शस्त्र-क्रिया सीपी है ।

हाँ, अब मैं अपने कर्तव्य में बदला, शृणा, संक्षीर्यता, तुच्छता से आता हूँ, तब मानो मैं अपने इस पतन से घोषित करता हूँ कि मैं हत्यारा हूँ । मेरी बिरुद्ध की आँसें फूट गई हैं, मेरे प्राण, प्राण-रक्षण के बजाय रक्त पान के लिए उतावले हो गये हैं । उस समय मैं, प्लेग के कीड़े से अधिक मरुकर, और विष-शुम्बी कटार से अधिक घातक हूँ । मैं ऐसा नहीं हा सँझूंगा । मुझे प्रभु ने प्राण-रक्षा सीपी है । इसीलिए मैं शस्त्र-क्रिया किया करता हूँ । समाज के पेट में साहित्य के जीवन में और राजनीति के मस्तिष्क में, हर जगह, मेरा छूटा, बराबर चकता होता है, मेरे आँसे बराबर पड़ते होते हैं ।



साहित्य-देवता

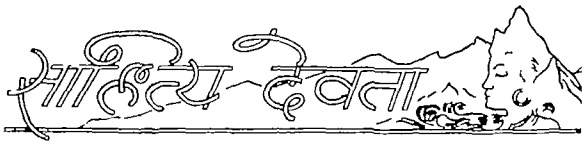
“क्या करोगे पढ़ कर ? ‘सौदामिनी’ का लेखक बनने की मेरे मन में इच्छा आपत्त हुई। मैंने अपने नगर का सुन्दर वर्णन लिखकर भेजा। संपादक उसे पचा गया। मैं समझ, शायद संपादकों का यह नहीं रुचता। नगर की उदासीनता छोड़कर मैंने बंगालों में कितने ही अमर्यों के तोते उड़ाये। गगन के स्वर में गिरबरो का मैरवी-गान लिखा। रमणीय भाङ्गियों की कनपुर के लोकमन मुहासल की गलियों से उपमा दी। इमशान को बिस्व के विनोद और संतत-हृदय की सेहत का साधन बताया। और, एकान्त को रात्रि के सघाटे-सा लिखकर भेजा। पर सब झूठ ! ‘राष्ट्रीय-बीणा’ के संपादक जी ने हृष्टता पूरा होने के पहले ही मेरा लेख मेरे पास वापस भेज दिया—ओ-ओ-त्यो ! केवल लिखकर उनका अपना ना।”

पढ़ी आशाओं और साधनाओं मन्दी होती हैं। वे संभावनाओं के पाड़ों पर नहीं बैठ पाती। क्या यही—

“—सो बात नहीं। संपादक कोमल लेखकों की आशाओं और साधनाओं का शिखरी होता है। जानते हा, मेरी उस समय क्या हालत थी ?”

आपकी हालत ? पुस्त्यार्थ को संकित कर मातृ-भाषा और उसके द्वारा मातृ-भूमि की अधिक सेवा होने के लिए—बिना तरह वृष्ट अपनी सुगंध के लिए कुछ रस अमीन से और कुछ आसपास बहनेवाली हवा में से सीपता है, उसी तरह—आपने कुछ अपनी बुद्धि से और कुछ अभ्ययन से अपने को परिष्कृत कर साहित्य-सेवा करना तय किया होगा।

— “ना, यह बात नहीं। संपादकों की उदासीनता से मेरा मन साहित्य-सेवा के परम हेतु से लिपकर कुछ समय के लिए हेतु-रुम्भ हो गया। उस समय



महत्वाकांक्षा की राख

क्या आपने कमी लिया ही नहीं ?

“आलोचना के सिवा ।”

कुछ भी नहीं ? कमी भी नहीं ?

“कमी-कमी, कुछ-कुछ, बहुत दिनों पहले ।”

तब आपके लेखन की बन्म-तिथि कौन-सी है और समालोचन की कौन-सी ?

“लिखने की मुली-बुद्धि को दरमाने के दिन को ही समालोचन के मंगल प्रमात बनने का गौरव प्राप्त है ।”

तब तो लेखक के घरराज ही को समालोचन का बड़ा मानना पड़ेगा ।

“ना, ऐसी बात नहीं है । कुछ लोग निरा पत्थर पूजते हैं । मैं अपनी टॉपी से एक मूर्ति बनाता हूँ और फिर उसको पूजता हूँ ।”

२

आपने लेखन को दरमाने की आवश्यकता क्यों समझी ?

“बोरों की दुनिया में अधिक दिन रहना ठीक न समझा ।”

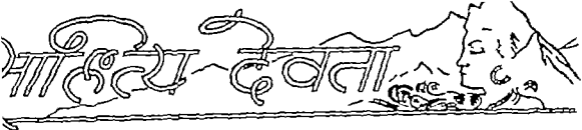
और यदि रहना पड़ता ?

“—तो बोर बनकर !”

क्या आप यह अपनी निश्चित राय से रहे हैं ?

“बिलकुल निश्चित ।”

इस अनुभव की पुस्तिका के कुछ पन्ने क्या भी पढ़ सकता हूँ ?



“ क्या करोगे पढ़ कर ! ‘सौदामिनी’ का लेखक बनने की मेरे मन में इच्छा बाधत हुई । मैंने अपने नगर का सुन्दर वर्णन लिखकर भेजा । संपादक उसे पचा गया । मैं सम्पन्न, शायद संपादकों को यह नहीं रुचता । नगर की उदासीनता छोड़कर मैंने बंगलों में कितने ही भ्रमरुदों के तोते उड़ाने । गगन के स्वर में गिरबतों का मीरसी-गान खिला । रमणीय भाइयों को कानपुर के लोचमन मुहाल की गलियों से उपमा दी । रमशान की विरह के विनोद और संतस-हृदय की सेहत का साधन बताया । और, एकाला की रात्रि के सबाटे-सा लिखकर भेजा । पर सब इच्छा । ‘राष्ट्रीय-शीला’ के संपादक जी ने हस्ता पूरा होने के पहले ही मेरा लेख मेरे पास वापस मज दिया—ज्यो-क-स्यो । केवल लिपिबद्ध उनका अपना था । ”

परन्तु आशामें और साधनामें नन्हीं होती हैं । वे संभावनाओं के भादों पर बड़ी बैठ पातीं । क्या यही—

“—साक्षात् नहीं । संपादक कमल लेखकों की आशाओं और साधनाओं का सिंघारी हाता है । जानते हा, मेरी उस समय क्या हालत थी ! ”

आपकी हालत ! पुरुषार्थ का संकल कर मातृ-भाया और उसके द्वारा मातृ-भूमि की अधिक सेवा हाने के लिए—जिस तरह कुछ अपनी सुगीष के लिए कुछ रस जमीन से और कुछ भासपास महनेवाली हवा में से स्वीचता है, उसी तरह—आपने कुछ अपनी बुद्धि से और कुछ अभ्ययन से अपने को परिष्कृत कर साहित्य-सेवा करना तय किया होगा ।

— “ ना, यह बात नहीं । संपादकों की उदासीनता से मेरा मन साहित्य-सेवा के परम हेतु से लिपिकर कुछ समय के लिए हेतु-गुन्य हा गया । उस समय

साहित्य-देवता

परस्पर-विराधी दिशाओं के अन्दाजे लगा कर मैं अपना नवा हेतु हँदने के लिए उद्दिष्टता के सरोवर में गोते लगाने लगा ।”

अदि उस समय आपने जैसे लेखकों की पुरुषार्थमयी कल्प-जीवनियों से सद्धार लिया जाता और साहित्य शिल्पियों के रूप में विन्दा रहना तय किया होता तो—

“—तुम नहीं समझते । मेरी बेचैनी के लिए, मयुर साहित्य-सेवा का विस्तार, कुपथ्य से भी बढ़कर कुपथ्य था । जो बोझी-बहुत सेवा मैंने की थी, वह मेरे लिए बोझ थी । द्वापे की क्रीलों में वह चाहे पूरी न दनी हो, मगर मेरे आस-पास के मित्र उसे जानते थे । किसी लड़ते हुए के कलेबे में झुलट लग जाने पर बेदना होती है या नहीं, मैं नहीं जानता, किन्तु जब राधामोहन पूँछता था—‘तुम्हारी योग्य की रानी गामक कहानी ‘वासन्ती’-संपादक ने स्वीकृत की या नहीं ?’ तब यह सवाल मेरे हृदय के भारपार हो जाता था । बीने से उतरते हुए जमीन पर गिर पड़ना मैं पर दावत कर सकता था, किन्तु जाकिये का कहानी छपने की इन्क़ारी का पत्र लेकर आना, मानो मेरे साहित्यिक-जीवन के लिए महामारी की बीमारी लेकर आना था । इसलिए पहले मैंने लेखक के माते, नाम समेत मिश्रण हो जाना, और फिर एक उससे भी श्रेष्ठ पथ में चलना तय किया ।”

यानी समालोचक होना न ?

“हाँ ।”

गुलवर, मैं तुम्हारा शिष्य हाकर आया हूँ । मैं भी लेखक-जीवन के कुम्भी-पाक में नहीं रहना चाहता । लेखक के इस जीवन से समालोचन में, हे मयु,—

‘तमसो मा ज्योतिर्गमय ।’

साहित्य-देवता

3

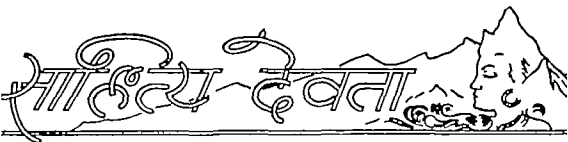
समालोचक उवाच—

“अलङ्कार-जीवन के कोष का परदा आलीदार होता है। उसमें मनी मानमा छनकर झँल्लो पर आ जाती है। जिसका हेतु झँल्लो में गिरफ्तार किया जा सके, वह समालोचक के महान् सिंहासन पर आर्षान होने का अपि क्षरी नहीं। महान् भ्रंषक्षर में अनन्त यात्रनों पर निवास करनेवाले मञ्जनों का चाहे कोई ज्योतिषी पता पा ले, किन्तु किसी देवर्षि की भी यह सामर्थ्य म होनी चाहिए कि सहस्र-सहस्र सूर्य की किरनों के भास-भास सेलते हुए भी, वह हमारे हेतु को गिरफ्तार कर सके। अंक-शास्त्र चाहे गणित की गालतियों का कोई भ्रंदाहा बाँध ले,—किन्तु उसे यह साहस नहीं करना चाहिए कि वह हमसे बाढी ले सके। पुस्तक के पृष्ठ, पृष्ठ की पैकियों और पैकियों के अक्षरों से भी किसी प्रेम के विषय में हमारे दिलावे हुए दोषों की तादात्त अधिक हा सकनी चाहिए। हमें अपने आक्रमण के लिए लक्ष्य की प्रतीक्षा में सूरज और चाँद की तरह अभावस और पुमा की घाट नहीं देखनी चाहिए। हमारा ता किसी भी प्रेम पर उसी समय लमास-महण जिस दिन हम चाहे।”

राहु ता पूर्णचन्द्र पर ही आक्रमण करता है, बालचन्द्र पर नहीं।

“किन्तु, समालोचना के जगत् में इस बात का खयाल नहीं रखना पड़ता। यहाँ तो अनेक बाल-भैलको का संहार कर समालोचन की छाप जमानी जाती है।”

छाने, महे पथों का खनना सिराने क लिए मातायें भी ता पथों के साथ उनही अँगुली पकड़कर चलती हैं। वे उन्हें गिरने नहीं देती। क्या समालोचक के लिए यही करणीय नहीं है।



“मा, हमारे प्रभाव का मूकजन जिन्दा रखने के लिए, और हमारे अस्तित्व के 'विरागी' जीवन पर मरम लपेटने के लिए तत्पर और नबागत खेलकों की महत्वाकांक्षा की रात बहुरी है।”

तब तो साहित्य से किन्तों ही की बाल-हत्या हो जायेगी !

“हर्ष नहीं, असौम्य नष्ट हो जायेंगे, योग्य जिन्दा रहेंगे।”

तब आप जब 'कार्दपिनी'-संपादक पर रुठे हुए हैं, किस कारण से ?

“मेरे प्रभाव की मस्तक में मुझनेवासी दुनियाँ की अकड़ को चुनौती मानना मेरा धर्म है।”

और अमर उपन्यासकार मधुरेश जी पर चढ़ाई क्यों कर रही है ?

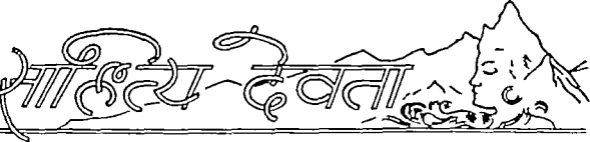
“आदमी सदा ही नीर-रस में नहीं रह सकता। उसे हास्य भी चाहिए। समालोचक का हास्य वह खेड़-खाड़ है जिसे वह बिना आश्चर्यकता के भी उत्पन्न किया करता है। उसकी शक्ति 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' होती है।”

किन्तु, आप केवल समालोचक ही तो नहीं हैं; संपादक भी हैं। क्या 'विपदन्त' के संपादक होने के नाते आप पर कोई जिम्मेवारी नहीं है ?

“पागल हो ! अरे, समालोचन और आक्रमण की साथ पूरी करने के लिए तब आपने पर अवलंबितों को खेतन और काल में 'महापात्र' साबित करने के लिए संपादन एक आश्चर्यक रोडगार है।”

आखिर जो काम नम्र-संकेतों से हो सकता है, वह क्यों चढ़ाई से क्यों किया जाता है ?

“इसलिए कि जिस 'नन्दन' पर भी हमारे तीर पहुँच जायें, उसे साहित्य की दुनियाँ में स्मरण हो जाना चाहिए।”



आखिर, समाप्तोक्ता की आदर दिशा चुनने के महामय की भूमिका में क्या कहा जावेगा ?

“ यही कि, प्रत्येक लेखक और कवि चार है। कोई विचार पुराता है, कोई माया और कोई रचना। यह नहीं होना चाहिए। लेखक या कवि का मौलिक होना जरूरी है। ”

क्या बिना चोरी के विचार, माया और रचना की स्वल्प-समता भी संभव नहीं ?

“ परन्तु, लेखक या कवि के पास क्या प्रमाण है कि उसने चोरी नहीं की ? ”

क्या इसका अर्थ यह है कि लेखक या कवि होना प्रकृति-व्यवस्था और होना है ?

“ ता फिर क्या इसका अर्थ यह है कि कहीं से विचार, कहीं से माया, कहीं से शैली और कहीं से रचना हड़प कर मने में लेखक मन लिया जाय ? ”

आपकी दृष्टि में कोई लेखक मले आदमी भी है ?

“ हमने सब धर्मों की परीक्षा नहीं की, किन्तु परीक्षा से जाना है कि अधिक तादाद चोरो की है ! ”

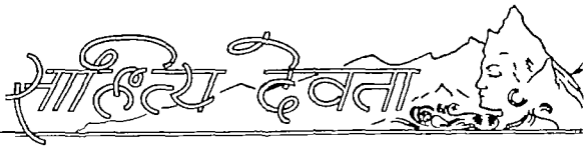
किसी धर्म या लेखक की चोरी पकड़ने में आपको कितना समय लगता है ?

“ अधिक-से अधिक छ-सठाह ! ”

तो कैसे ?

‘ अँगरेजी या बंगाली के तद्-तद् विषयों के धर्म देखना जहाँ हमने शुरू किया कि चोरियों एक के बाद दूसरी हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती हैं । ’

साहित्य-देवता



चाहे उन लेखकों ने आपके पढ़े हुए उन पंथों को देखा भी न हो ।
 “ बिना देले वाचन या माया या मन्त्रमून या शैलियों केले मिल सकती है । ”
 मैं इस प्रश्न को बरा दूसरी तरह से समझने का यत्न करूँ, मगधन ।
 आपसे कमी ऐतिहासिक पुस्तकों को पढ़ा है ।

“ बल्क । ”

और वैज्ञानिक पुस्तकों को ।

“ हों । ”

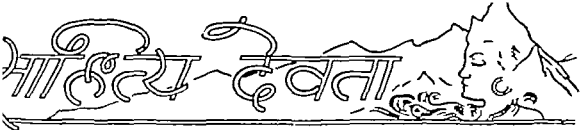
राजनीति अर्थशास्त्र आदि के प्रश्न भी आपने पढ़े ही होंगे ।

“ हों पढ़ लेता हूँ । ”

फिर उन पंथों में, कान-सी बातें दूसरे पंथों के आधार पर नहीं मिलती
 जाती । इन विषयों के लेखकों का अपना शुद्ध मौलिक कथा होता है, आपने
 कमी गहराई से सोचा है ।

‘ मैंने प्रायः ऐसे पंथों की समालोचना नहीं की । यदि करता तो इनमें
 भी बहुत कुछ देखा जा सकता था । साथ ही यदि उक्त विषयों में मौलिक
 कथा नहीं है, तो क्या साहित्य के लेखकों में भी नहीं होंगी चाहिये । ’

सत्ता माफ हो सरकार मैंने यह नहीं कहा कि उनमें कुछ मौलिक
 नहीं होता । मैं तो यह पूछ रहा हूँ कि जब कबल कुछ विचार बरा-सी
 शैली और तनिक माया मिल आने पर कहाणी, कविता, उपन्यास आदि
 के लेखकों को सूँप-सूँप कर और साहित्य किया जा सकता है, तो प्रायः
 अदालत में दूसरे लेखकों के सारे-के-सारे विषय का निगलनेवाले कुछ
 विषयों के लेखक बाहू कबो नहीं करार दिये जाने चाहिए । यदि वे हाक
 नहीं, तो उन्हीं की तरह निर्दोष बनने के लिए क्या आप साहित्य के लेखकों



को दूसरे प्रयत्नों के समान इजाजत दोगे ? इन विषयों का भी बनना मौलिक कुछ होता है। परन्तु प्रभु, मुझ मन्दबुद्धि को जान समझने ता, यह चीज-सा।

“ किन्तु ऐसे विषय ही बाहे हाते हैं। ”

ना मगबन् ! ग्यातिप में मौलिक क्या होगा ? व्याकरण में मौलिक विषय कौन-से हैं ? और भूगोल की मौलिक दुनिया कहाँ समाइ जायेगी ? क्या यह सत्य नहीं है कि मौलिकता के रफ-कर की मींग पर अपना मंगूण रक बढ़ा चुकने के बाद भी केवल बेचारे साहित्य-शिल्पी ही दायातखार करार दिये जाते हैं। यों तो व्यास, पान्नीकि और कापिदास तथा तुलसीदास भी इस मगबान् की तरह व्यास शारी से नहीं बच सकते। इनके सिवा इतिहास, विज्ञान, ग्योतिप, तर्क और अर्थ-शास्त्र आदि विषयों की आप्पोचना का धाम ग्रीक हिन्दी-संसार किने सँमाले ? इन विषयों के प्रयोग की आप्पोचना धाम शैली और मापा की चोरी देँड कर नहीं की जा सकती। यहाँ हडपने, बेनिटी फेपर और झोल की चिकिरी की माम्मा करने में अब काम पणता हो। यहाँ तो विज्ञान, इतिहास और ग्यातिप आदि विषय प्रकल्प-विद्रुषा और प्रगाइ अभ्यसन चाहते हैं। यह 'राष्ट्र'-मापा में कहाँ मंगन ?

“ ता क्या, साहित्यको का शारी करने का लाइन्स द दिया आप ? ”

ना, मगबन् ! साहित्य-शारी के हिन्दु रहने के लिए, पाहर की मस्ट, बाहे वे अब-जब ही क्यों न हों हरगिजन जान दीजिए। मौलिक शारी की पाइ के लिए बाहर के अब-जब की उरुरत ? परन्तु, कलिपुग आ गया है।

“ यानी ? ”

साहित्य-देवता

चाहे उन लेखकों ने आपके पदे हुए उन धंधों को देखा भी न हो।
 “बिना देले बाप्य या मापा या मजमून या शैलियों कैसे मिल सकती है।”
 मैं इस प्रश्न को बरा दूसरी तरह से समझने का पक्ष करूँ, भगवन् !
 आपने कभी ऐतिहासिक पुस्तकों को पढ़ा है ?

“ बल्क । ”

और वैज्ञानिक पुस्तकों को ?

“ हों । ”

राजनीति ‘अर्थशास्त्र’ आदि के धंधे भी आपने पढ़े ही होंगे ?

“ हों पढ़ लेता हूँ । ”

फिर उन धंधों में, कौन-सी बातें दूसरे धंधों के आधार पर नहीं लिखी जाती ? इन विषयों के लेखकों का अपना ‘शुद्ध मौलिक’ क्या होता है, आपने कभी गहराई से सोचा है ?

‘ मैंने ग्राम ऐसे धंधों की समालोचना नहीं की । यदि करता तो इनमें भी बहुत कुछ देखा जा सकता था । साम ही यदि उक्त विषयों में मौलिक क्या नहीं है, तो क्या साहित्य के लेखकों में भी नहीं जानी चाहिए । ’

लना माफ़ हो सरकार मैंने यह नहीं कहा कि उनमें कुछ मौलिक नहीं होता । मैं तो यह पूछ रहा हूँ कि जब कतल कुछ विचार बरा-सी शैली और तार्किक भाषा मिल जाने पर कहानी, कविता, उपन्यास आदि के लेखक को घुँप-घुँप कर जोर साबित किया जा सकता है, तो घापकी अदालत में दूसरे लेखकों के सारे-के-सारे विषय का निगलनेवाले कुछ विषयों के लेखक बाकू क्यों नहीं प्रसार दिये जाने चाहिए ? यदि वे बाकू नहीं, तो उन्हीं की तरह निर्दोष घनमे के लिए क्या आप साहित्य के लेखकों



छ दूसरे मंत्रियों के समान इजाजत दोगे ? इन विषयों का भी अपना मौखिक कुछ हाता है। परन्तु प्रभु, मुझ मन्दबुद्धि को ज्ञान समझावें तो, वह चीन-सा ?

“ किन्तु ऐसे विषय ही भाड़े हाते हैं। ”

ना भगवान् ! ग्यातिप में मौखिक क्या हागा ? ब्राह्मण्य में मौखिक नियम चीन-से हैं ? और भूगोल की मौखिक दुनिया कहाँ बसाइ जावेगी ? क्या यह सत्य नहीं है कि मौखिकता के रक्त-कर की माँग पर अपना मँडूँ रक्त बहा चुकने के बाद भी केवल बेचारे साहित्य-शिल्पी ही दायालखार करार दिये जाते हैं ! यों तो ब्रास, वाल्मीकि और कालिदास तथा तुषसीदाम भी इस भगवान् की तरह भ्यात जारी से नहीं बच सकते। इसके सिवा इतिहास, विज्ञान, ग्योतिप, तर्क और अर्थ-शास्त्र आदि विषयों की आभाषना का पाम्क ग्रीसि हिन्दी-संवार फेने सैनाल ? इन विषयों के मँयो की आभाषना बास्य, शैली और भाषा की बोरी हूँ कर नहीं की जा सकती। यहाँ हडसने बेनिटी फेपर और चील की किरकिरी की मात्ता परने से ज़र हान पनला हो। यहाँ ता विज्ञान, इतिहास और ग्यातिप आदि विषय प्रच्छएऽ विद्रवा और प्रगाढ़ अभ्यपन चाहते हैं। वह 'राष्ट्र'-भाषा में कहाँ मँन ?

“ ता क्या, साहित्यिकों का जारी करने का लाइसनस द दिया जाय ? ”

ना, भगवान् ! साहित्य-खार के बिना रहने का निर, बाहर की बस्तु, बाहे ये अब-जल ही पयो न हों हरगिन्न न जान दीसिग। मौखिक शरीर की पाइ के लिप बाहर के अब-जल की इस्तरत ? परन्तु, कलियुग भा गया है !

“ यानी ? ”

साहित्य-देवता

रेलें, जहाज और हवाई जहाज विरम मर का ज्ञान लेकर हमारे दरवाजे उँदेलते हैं। हमारे लेखकों का यह काम है कि विरम के समस्त ज्ञान के झगड़ों को गरम पानी के बूँदों में बला दिया करें, किन्तु वे उसे पढ़ते हैं। पढ़कर विरम के चित्तों की तरह भित्त करते हैं और उस भित्त को लिखते हैं। मला यह चोरी क्यों न कही जावेगी ? परन्तु,—

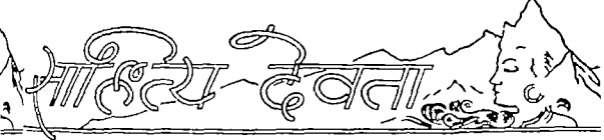
“तब आप साहित्य में मौलिकता नाम की कोई वस्तु ही नहीं मानते ?”

मानता क्यों नहीं हैं ? मैं तो मानता ही हूँ कि कर्बता, कहानी और उपन्यास के लेखक ने माँ के पेट से जन्म तो लिया ही होगा। माँ ने शुद्ध सिक्खे होंगे, पिता न वाक्य बनाना। शाला के पाठक में माया ‘बनाई’ होगी। विद्वानों ने अपने विचारों और शैलियों से संस्कार किया होगा। और इसी पीछ धंधों ने आकर विद्वानों का स्वाम ले लिया होगा। तब फिर इतनी की चोरी करनेवाला साहित्यिक, चोर क्यों न होगा ? इसलिए मौलिकता का अद्वितीय मान भी है तो अपनी मन्दबुद्धि के कारण यह मेरी समझ में नहीं आता कि आखिर मौलिकता है क्या वस्तु और वह केवले साहित्यिकों ही की साइसाली क्यों बनी रहती है ?

“इस बात का पता उस दिन लगेगा, जब गुम अपना मुँह किसी दिन मासिक ‘विपदन्त’ की संख्याओं को उठाकर देसागे, जिनमें मैं अपना ईमान व्यक्त किया करता हूँ।”

आपके इमान की अब हो, मगकन !





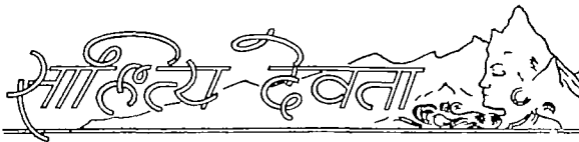
साहित्य की बेदी

तुम्हारी बेदी ।

बेदी वह जिस पर मैं आदर से आँसुओं के फूल बढ़ाने
 को लाक्षापित रहता, जिसकी ओर से आनेवाली धीरता की मंझरों
 को सुनकर पापियों में पवित्रता उमड़ पड़ती, कमजोरों में विभली दीड़
 जाती, साहित्य की ध्वनि धारा में अद्भुत राष्ट्रीय संगीत सुनाई पड़ने
 लगता, नीर क्षीर बिलगानेवालों का दल जिसके आस-पास कुतूहल से
 बँसल हो फुदकने लगता, साहित्य-मुषा के मधुर सरोवरों के सरसिज, मृग
 मद की मस्ती पर झड़नेवाले परिमल की छोड़-छोड़ उसे सुगन्धित करने
 लगते,—येही, येही वह तुम्हारी बेदी ! लो, एक बार मैं उसकी ओर झुक
 लूँ ! मेरी बीषण का वह सर्बस्व, मेरी आशाओं की वह पिटारी, मेरी आभति
 नटी की वह मातृ-मटी, मेरी मातृ-मृगि की गोद की वह शोभा और मेरे
 पिङ्गने भू-भाग की वह परम-भावनी कर्तव्य-मीडिका, देखूँ कैसे ही रही है !

मैं उसे मूल्यवान् समझता हूँ, किन्तु उसका मूल्य बाँदी-सोने के
 टुकड़े नहीं है। यह मूल्यवान् होकर भी खरीदने, बेचने और उपहार में
 देने की वस्तु नहीं है। उसे पानेवाले के शरीर पर, 'फटे पुरानेपन' का राम्य
 पन में पिरोप, शरीरी, पूषा, इजून और लक्ष्मी के मुलामों की ह्पा के
 पीले कौंटे, पदों में पुण्य की आर ग बढ़ने देनेवाले बन्धन, शिर पर मिट जाने
 की कल्पना, कण्ठ में तोंक और तिसपर भी माता की पूजा के भाषों से भस्त
 मीड स्तर, आँसुओं में भ्रम की क्षीणता और तुम्हारे घरणों के घाने के लिए
 आँसुओं की धारा, गालों पर ईसा के आज्ञा पालन की तैयारी, मुँह में मान

साहित्य-देवता

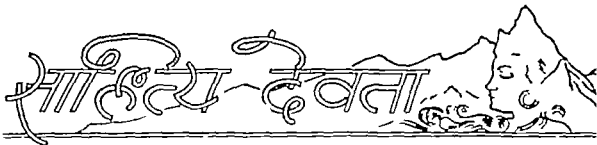


माला की मनोहर स्तोत्र माला, हृदय में देश की दसों दिशाओं में गूँच मचाने वाली बीया तथा दुर्बल को सबलता का स्वरूप बना डालनेवाली पुस्तक लिये हुए तुम, और हाथों में, अपनी श्यामला से श्याम के मन को भी गाढ़ लेनेवाली लेखनी,—वह लेखनी जिसके चल पड़ने पर मरे हुएों में जीवन-स्मृति प्रगमगाने लगे, बिड़ड़े हुए मिलने को टूट पड़ें, छोटे हुए जापति का सन्देश पहुँचाने लगे और पिछड़े हुए अमगामियों को पथ में पीढ़े झाड़ धँठने की खनते दल्लें,—ऐसे अक्षरों के उपासक शब्दों के साधु, पदों के पूजक, ध्वनियों के विश्वामेद विहारी, सन्धियों के निर्माता, और 'पूतना मारख लम्ब कीर्ति' के अंग में नित-नव आभूषणों को समर्पित करनेवाले, किन्तु प्राणों का, मतवाले हो क्लम के घाट उतारनेवाले ही को अधिकार है कि वह आगे बढ़े और तुम्हारी अमृत-सन्तानों की आत्मा को शिर पर धर कर तुम्हारा पवित्र सन्देश सुनाने, तुम्हारा दिव्य दर्शन कराने और तुम्हारे लिए की हुई आचम्य तपस्या का प्रत्यक्ष परिचय देने के लिए आगे बढ़े, और आशीर्वाद के जल कणों से सिंचित उस बेदी स्त्री गोदी में पके हुए, परिमलपूरित, प्रफुल्लित पंकज के समान शोभित हो वह महामाग, और उस तुम्हारे भाषों के मगवाले के मस्त सौरभ से महक उठे माता, वह तुम्हारी बेदी ।

* * *

पुकर हुई और तुम्हारे आराधकों ने तुम्हारे एक सेक को देँदा । उसने गिरिगह्वरों में प्रवेशकर तुम्हारी अमृत सन्तानों का मित्र बनकर तुम्हारा कीर्तिगान किया था, उसने हिसक्रे से पूरित बीहड़ बन में तुम्हारे बाहन के नाम की गगन-नेदिनी गबेना सुनाने में साथ दिया था, उसने तुम्हें पहनाने के लिए माला गूँचने में अपने की आगे बढ़ाया था, और उसने साहित्य की बेदी ++

साहित्य-देवता



हिसको के हृदयों को न हिलाकर, हिमालय के पुत्र की एक कन्दरा में अपना जीवन बिता समर्थ के सन्देशों को बुझाया था, और उसन कर्मयोग के सन्देश बाइक का सम्बन्ध सेवक बनकर दिग्गया था। हम दौड़ पड़, और ठुम्हारी बेदी, उसकी महत्ता और पूज्यता की रक्षा के लिए उसके घरणों में बैठकर बड़ी छात्र-नगत से आराधना की। उस संसार का परिवार माननशाले, उस "या यया माम् प्रवचन्ते" के प्रती, उस बचनों के निर्मीक, दर्शन के भित्तारी और कर्मों के तपस्वी की छाया में बैठकर हमने स्तात्रों का पाठ किया, यह यत्रों के सिवा शेष यत्रों की रचना दिग्गयाइ, मारण और उष्भाटन के सिवा शेष यत्रों का प्रयत्न किया और उस स्वतंत्र द्वायनेशाले के तत्र में आ जाने के लिए प्रत्यक्ष आत्म-समर्पण का वचन दिया। किन्तु उसने, उस स्वतंत्रता को परम सीमा की सेविका बनाकर, हतमायिनी बनानेवाले देव ने हमारी हठारों आक्रांताओं और तुम्हारी भासा और आदेश के अनेक अनु सम्बानों को अपने पदों से रीद डाला। गारब उसकी इष्टि में रौरव था। उसने वही सिद्ध किया। उधने गौरव के तार फलरब को फलाइस कड़कर डुकरा दिया। और बेदी पर परण रतकर बढ़ने के बजाय, उस पर अपना मस्तक रतन की इच्छा प्रकट की।

तब स मस्तक उठान मन्क रतन और मन्क और हृदय की प्रति चवानपाल लाग धनन आननन में तुम्हारी रस येगी का हरा रतन दिन हुए हैं।

और बेदी के य उपासक, अमर ह, अनिजित हैं, सदैव आराधनामय हैं; इही को पाकर निहाल हैं, तुम्हारी बेदी।

साहित्य-देवता

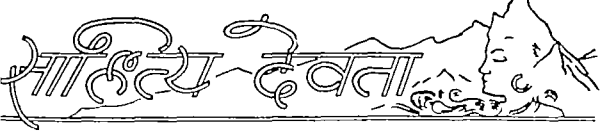
बिन्दु, सिन्धुत्व का दावेदार

जल-बिन्दुओं में यदि मिश्रण का स्वभाव न हो तो जल-समूह सिन्धु न कहला सके। इति के देवल में प्रकृति ने भी अपने को सीमा-रेखा खींचने में असमर्थ पाया है। इस मूमात्र का यदि कोई जल बिन्दु-प्रतीक बूझने पले तो वह किसी डिटमन, किसी घूर, किसी ठुछराम, किसी बेलुब के पास भाकर उड़र जाय।

ऊपर से नीचे की ओर गिरना—किसी कठोर तपस्या है। नीचे से ऊपर की ओर अपतलस समूल झुपकर गया बा, बासु वनकर, और ऊपर से नीचे की ओर व्यक्ति बगकर टपक आया, बिन्दु वनकर।

कुछ वे हैं जो ऊपर चढ़ने को इतिहास कहते हैं, कुछ वे हैं जो नीचे उतरने को देवल बताते हैं। पहलो का उदाहरण मुफिनाद है; दूसरों का उदाहरण अशतारवाद है। परन्तु नीचे का उतार ही तो ऊपर जाने का प्रबन्ध है। इसीलिए मजहब नीचे से ऊपर चढ़ने की गुण-गामा रक्ता है, और कबि ऊपर से नीचे का अपनी गंगा बहाता है। किन्तु टाटे में तो वे रहते हैं कि आँसु की सतह पर उतरानेवाले प्रकृति के इस प्रकृत कोशल में सीमा रेखा खींचने का पचपन करते हैं। ये तो अशतार की तरह उतावल, गंगा की तरह शकल, उतार को समस्कार करके अपनी बात कहना चाहता हैं।

आँसु से देलने का उदार सोदा अनेक पपों करने के बाद, कहीं आँसु देलने की आदत आती दीली। ये दोनों अम सृष्टि में पढ़नेवाले अकालों की तरह दूर रहे। किन्तु एक दिन कोई बौगुरी बया उठ्य। और बिन आँसु को भी देल रहा बा, उनमें पानी भर आबा। इस्तरत का आवेग उस पानी



को बाहर ढकेल रहा था; और लोक-साम की लाचारी पलकों बनकर उसे अन्दर की समेटना चाहती थी। इस तरह स्नेह और शास्त्र में पचास की सदी की भीत-हार चम रही थी। हाँ, पर मैंने देखा, समूचा दिन भीत गया किन्तु सूरज के पॉष के कोई निशान ज़मीन पर बाकी नहीं रहे। जिसकाई इतिहास कइता, साहित्य कइता, शास्त्र कइता।

मैंने अपनी बाँसुरी, लाचार उठाई। और साँसों का हाबिरी रजिस्टर में सूरज और चाँद के हरी-हरी ज़मीन पर छिने गये पापों और पुण्यों का खेला-जोला बाँसुरी की ध्वनि में, ध्वनियों में, गुँथकर उसे ज़मीन के परपरो, मोच पत्रों और तख़्तहरो पर रत दिया। तोग कइ उठे—'युग पोल उठा।' मुझे नहीं मालूम मेरी बाँसुरी के सिवा युग किस चीज़ का नाम है।

जिस दिन बाँसुरी पाली मुझे दूँइमे वाले निरुच पड़े। शास्त्र के मानव के तो मैं हाब न आता किन्तु शास्त्र का दानव सर्वभ्यात का और मेरे प्रयत्नों के सारे रहस्य का यह अपनी आगीर पताकर उसे मरुण कर गया। मैं उस समय थिल्लाता था। किन्तु, कवि का 'मि' ता उम अभागी वस्तु का नाम है जिसके गाँतो की मिटास का मी तमाशा ही देता जाता है और जिसके सर्वनाश के रोदन का मी तमाशा ही देता जाता है।

मेरी लाचारी और उसातो का नाम जिस दिन 'बन्धा' पड़ा उस दिन मुझे मालूम हुआ कि मरा फिर-संघित 'स्य' मानो बाइर में कटा दिया गया। मेरी सिंसक आब रोडगार हो गई।

बे-मौसम मेरे बी में आनेवाली वेदनाओं का मौसम यकानेवाले ही तो मुझे कथाधर के नाम से बदनाम करनेवाले जानपारी हैं।

किन्तु, मदी पाहे जितनी तरल-रुदया हा वह इतनी बलशालिनी ता

साहित्य-देवता

नहीं होती कि किसी प्ररतमन्द प्पादे को देखकर वह अपने में जब चाहे बाढ़ ला सके। और अपने आपसे प्पासे के भौंठों तक पहुँचा सके।

बिधाता के निर्माण में नहीं तो कमी है कि सीमाबद्धता से अस्तित्व बनता है, सीमा छोड़कर वह व्यो-च्छ-र्यों नहीं रह जाता।

तब सृष्टि की देन के मर्यादित उपकरणों को एकत्रित कर मेरे बन्धन और घर्षनाश के साधन एकत्र किये गये। उन्होंने शास्त्र नाम पाया। और जो मीठा-मीठा-सा, कोमल-सा, कल्पना में वेदाता और जैसा किन्तु कर्मण्यता में लाचार-सा सृष्टि का बैभव बाहरी रह गया, उसे कला का नाम दे दिया गया।

मानो कोई कहानी जिस रहा बा और उसका पहला वाक्य बा— एक बा राजा और उसके यहाँ भी एक दासी। यह समझाता मुझे कमी स्वीकार नहीं हुआ। इसीलिए मेने शास्त्र को बिसे हुए पैसे की तरह रुद्ध कर पीछे फेंक दिया। और अपने लिए विद्रोह का रास्ता अस्तित्वार किया। अब मेरे शब्दों में कला, प्रलय के सिलवाड़ को कहते हैं, विद्रोह को कहते हैं।

विद्रोह की नहीं भावना भी जिसने सुबालों के परिवर्तन को जगत पर उतारा। पहले मानवों के द्वारा बिचार बनते थे, अब बिचारों की जमीन पर बिधाता अपने मानव ढालने का बाध्य हो गया है। यह बेकल मेरी खेलनी का प्रसाद बा। शास्त्र बेपारा लाचार बा कि उससे सब कुछ बन सकता है, मानव नहीं। बिधाता जो प्राणी बिचारों पर नहीं ढाल सकता, वे बिधाता के बनाने हुए होकर भी जड़ हैं। मनुष्याद होकर भी जड़ हैं। पलवान होकर भी पराधीन हैं। शक्ति—वृम्दावन की गाव है। और

साहित्य-देवता

मेरी प्रजनन-आवना यशादा ग्वापिन है। एक दुही हा जायगी; दूसरी दुहाती ही जायगी।

शँगुरी के स्वर पर सँपि स्वभाव मूषन लगः तथ मानव ता कर्दा तफ येकरा रहता। निर्मिपारी मुम्कय, विरव-विमृति का स्वामी बनाकर सिहा सन पर देनाया गया। सूर्य-किरणों न मूमि की गलियो और धाराओं स मून कर मुन्के हिमाग्नय के सिर पर हिमलैड बनाकर उच्चत्व प्रदान किया। विरक्षण बहुत बढ़ा थी; शताब्दियों मानवता का मुँह बन्द कर देने के लिए। किन्तु यदि म उसे स्वीकार कर लता तो मरी पीढ़ी, बृदावन की गावों की पीढ़ी, शर कापुल के बड़ों की पीढ़ी, किसी दूषीण स्थान पर साय-साय परत रहन। सिहासन पर बैठने समय मुन्के अनेनापन बाग्नीला मासूम हुआ। म ता बड़ी विन्दु धान, जिसमें सम्मिश्रण-आवना का तात्पर्य मा और विन्दुत्व की गयादा को मिटाकर सिम्पुल प्राप्त करने के लिए सदियों तक पतितो मुख निम्नगा पनने की तैयारी थी। मेरा ता स्वभाव ही कानू बर्नल की भर जाने का है। ऊँचे के बेमब को नीचे आकर बाँट देना ही मेरा तरलाइ का बरदान है।

विरक्त की धरमराहट से मैं नगापिराज के मस्तक पर हिमरीण पनाकर बैठा दिया गया था, किन्तु सूक की सूर्य-किरणों, या मेरी अपनी शक्ति है, मुन्के नीचे का पहा लाइ। आकाश का दबताओं ने कहा हागा " यह परम उम्मान, परम निर्मल उचातिउच स—और कितने नीचे जायगा "। किन्तु मैं ता बर्नल के मानको की वाली मुन रहा था या मर उतार का नर्गत्य प्रयय कहकर पूजा कर रहे थे।

और दबताओं के उस सिहासन म 'उत्तरका' मैंने गनि पाइ, प्रगति पाइ; प्रगाह पाया, प्रमथ पाया; रंग पाव, तरंग पाय। और वहाँ तक मैं प्रराहित

साहित्य-देवता



रहा अपने दोनों किनारे हरे-भरे पार्वे । मानो, शास्त्र ने उष्णत्व से मुझे देश
निष्कला दे दिया । रुद्रि की दासी, सूर्य के राभा के साथ और मन्वहार ही
चैन-सा करती । यदि मन्वहार के दिवाता की विरक्ति राम को देशनिष्कला
दिलवा सकती थी तो मैं भी वहीं पशु क्यों न ग्रहण करता । किन्तु, मेरा यह
देशनिष्कला मानो, मृत्युस्त्री मेरे से अमरत्व के दिग्बिम्ब के लिए मेरी किरा
थी । विष्णुओं के पारा घने जीवन में मेरे ज्ञान न थी किन्तु मेरी गति
से भी स्वर निकलता था । ठोकर मुझमें विपुल और संपर्प मुझमें संगीत
भरता था । मुझे बढ़ते समय किसी ने न देखा था, किन्तु आसमान से उतरते
समय मेरे टेढ़े भाड़े पेरों के निशान बनकर इन्द्रपदुप बनते थे, बिगड़ते थे ।
पामु, ऊपर को गले बाँधे चिन्तु तरबाई तो सदा आकर्षण की ओर जाना
करती है; चाहे उसे गुल्लकारीयण कहिए । विश्व के समस्त प्रबन्धन का केन्द्र
बिन्दु आकर्षण है । सन्तत्व के प्रबन्धन का भी, देवत्व के प्रबन्धन का भी ।
क्या तुम मेरे इस आकर्षण को कला कहोगे ? तब तो तुम मातुल को रोब
गार कहोगे । शास्त्र और कवि से भगड़ा हाने की वही जगह है । तुम सत्य
को न समझकर भी उस पर महसूस कर सकते हो और मेरे छापाय यौन में से
भी सत्य ही का स्वर अंकुत होता है । बिना उपकरण, बिना सेना, बिना
साधन और बिना सामर्थ्य जब मैं वैभव के घर से निष्कला-सा जमीन पर
बार-बार चलकर तरल धारावाली किनारे जगाती पगडरयी बनाता होता हूँ
तब यदि बादल आ जाते हैं तो मैं किसी झाड़ के नीचे लड़ा हो जाता हूँ ।
मैं होता हूँ, मेरा साहस होता है, मेरी कविता होती है । उस दिन छलसीदास
के शब्दों में श्रीशाला की तरह मेरे लिए कोई यह कह बिन्ता नहीं
करता कि —

साहित्य-देवता

काठू बिरछ तर भोगत हुए हूँ
राम कसतम शोउ माई ॥

पानी मुझे बहा नहीं सकता। गरमी मुझे जला जो न पाई भी। उसने प्रवाहित कर दिया था। तब पानी मुझे कैसा बहाता? उन भरसाती बूंदों के बीच खड़े हुए भरसराते हुए भर शरीर का पूर्ण क हरि वाले बेमय ने, फूलवालों ने फूल खेकर, कौंटोवालों ने कौंटे लेकर और पत्ती वालों ने पत्ती ही का हिला-डुलाकर उस पक्षम में भरा बग्घन किया था। उस समय मुझे ऐसा लगा कि किसी बबूल क भगल में जगा हुआ मे भी एक पपूल ही का पेड़ हूँ। माना वायु की सनसनाहट और पत्ती की परपर मे मे बूझभोक की मापा का कवि हूँ। कौंटे कहानियों कहते-स फूल पूजा करते से और पत्ते पीरक बँधाते-से नबर आते थे। तिस पर उस समय का टिटहरी का बोल पढ़ना। मानो जमीन पर गड़ती हुई आँसों का आसमान में म्भोता भेबा था।

करंज के झाड़ पर सेने अपने दोनों हाथ उस दर्वा में लटक दिये थे। किन्तु उस झाड़ की जड़ों से डालियों में पड़ता हुआ रस डालियों समझकर मानो मेरी मुखाओं में भी बड़ा जा रहा हो। पंरों के बीच जमीन भी सिर पर आसमान की बूँदा-बूँदी थी, कौंठे के पास पत्ती दुपक कर कौंटे थे, जड़ों हावों में रस द रही थी और ये मदी के तट पर निस्तम्भ खड़ा था। तप मुझे यह विभ्रम कैसे म हाता कि मैं बूछ हूँ। तब, परसती बरसात में मे हरा-भरा सुत्ती हा उठने के पचाय, दुःख टिम बात का मनाता? आसमान स गिरते हुए त्रिरोक का बाह किसी श्पि ने बचाया हो या नहीं बचाया हा, किन्तु, बूँदों की मस्तानी पक्षमता ने मुझे इत्तर पृथत्य क अमर हरिवाचन म म

साहित्य-देवता

पानी में नीचे बहने दिया, म मानवरत्न के आमास से मुझे नीचे गिरने ही दिया। इस तरह वृषों के भीन गुरु ने मुझे एकरसता के हरिबालेपन का ऐसा पाठ पढ़ाया कि अब जब कभी मेरे अमरुद की बाल से मेरी अम्यकसता गाय अपना कौंवा रगड़ने लगती है, तब मैं उस पर नाराज होने दौड़ता हूँ कि कहीं वह अमरुद की बाली में बालेन पैदा कर दे। गुलाब की अमतरात्मा से उतरने के लिए कित्ती अगदीराअम्र की ज्ञान-सीढ़ी की किस्ती कनि का बल्लरत ही कैसे पड़ सकती। इदय तो वह स्टेशन है जिस पर अस्तित्व अपना लगेज लेकर नहीं आ-या सकता। अस्तित्व का यह स्थान, आकर्षण का यह देवालय, प्रवाह का यह अमरत्व, गति का यह संकेत-दर्शन, मेरे गुणगो की तरह मेरे साथ है और जीवन की समस्त परिमितताओं के साथ यह मेरे ही साथ रहता आया है, मेरे ही साथ रहता जायगा।

मैं गठिरीक हूँ, मैं तरक हूँ, मैं म्बारी हूँ, मैं निम्नगामी हूँ, मैं किस्म की समस्त हरीस्तिमा के भूमि के प्रविभूय विद्रोह कर, ऊँचा छपुय छपुय बनाने बाधा, जीवन रस हूँ।



साहित्य-देवता

नीलाम

गुलाम, तेरे धाम से 'मी' वाली झुक रही है। इसलिए कि तू न भूमि से रस लिया है और वायु का सौरभ प्रदान कर दिया है। तूने अपने आत्म प्रभाव से प्राप्त देवत्व का विश्व-सबिद्ध वायु के चरणों बढ़ा दिया है। इसी-लिए तो वह, प्रातःकाल आकर पत्तों से बेचैन कलियों पर पैंगे झला करती है। किन्तु तेरी रामा, तेरा पूरुषार्थ, कलियों की कला और लालित्य में चढ़ी है। वह सा कंठों के तेज और पूरुषाय में विद्यमान है।

किन्तु कला और लालित्य, तेज और पूरुषार्थ—आज सा सप नीलाम पर निकल है। ज्ञान की गहरियों बहुत हैं; मानसत्व की मरीचि-मालाओं का टोटा है। तुझी और मेनुषी तिलकियों बहुत हैं; प्रभु-धाम्नीने, नभ-विन्देदी गरड़ का पता नहीं। गीत है—मामाफन की बूँदियाँ चकर छाट रही हैं, नन्दन की मयूरी चढ़ी बूँद रही है। देवता की पत्थर बनाकर सिद्ध लपेटन-बाल हैं; स्वयं प्रभु की आश्रयवाणी बननेवाले चढ़ी हैं। दूनिरसिंटी की तादाद बढ़ानेवाले हैं किन्तु बीणा-वारिणी के पुग-संदर-बाही मयूर नहीं हैं। क्यों?—

'रुकिए कि आज भी नीलाम पर बिहने निरुडा है।'

आज हारीबी गर्भ नहीं रह गई। अरस्ताइल के शब्दों में बिदूषा का अमर अचिह्नर आज बिटम निकला है। एक दिन भरे जन्म पर आ-मार माना जाता था। विनवा क विनाद में रूप 'आ' उपसर्ग का लाप हुआ गया है। आज का मल्ल यजमान की तन्नाश में है। निजाई में संभर रह चढ़ाई की है। सरस्वता मयूर पर विष्णु मीन की गोद में सागर की सहरो पर, शिर

साहित्य-देवता

बर्फीले हिमालय पर मझे रहें पर मेरा बसल तो दाता के द्वार पर लड़ा रहेगा। विधाता के द्वार पर तो गंगा-बल मिलेगा तुलसी-दल। अब “अक्षय मूल्य हरयम्” के रिक्तार्थ की आशा पर अक्षय मूल्य न हो, तमी आश्चर्य।
‘क्योंकि आज मैं नीधाम पर लिखना हूँ।’

“पवित्रता-वनिता-श्रुता”—बसल का कैसा मणिकर्षण संयोग है। कहते हैं—ये स्वावलम्बी नहीं होते। हमने “सा विधा या विमुक्ते” को जैसे सुन्दर ढोंचे में बदल दिया है। जैसे को दाना दो, वह दूध देगी। हमें दाना दो, हम साहित्य देंगे। जैसे स्वयं दास लावेगी हम स्वयं दास रहेंगे। जैसे के चार पाँच हैं हमारे भी ज्ञान के दो पैर भी हैं। हम प्रभु को पुकारते समय कहेंगे—“पापोऽहं पाप कर्माऽहं”। वह कैसी प्रणयार्थ है जिसे हमने “सोऽहमस्मि” से बदला है। हृदय का विवाला कहता है “गगन-नीमीर” पूजा म्याकुल विरह कहता है—“बीर-पूजा” परन्तु मैं सुनता हूँ—“शरीर पूजा”। तब मेरी वाणी में रस क्यों हो। मेरी बीया में स्वाद क्यों हो। मेरी बौत्तुरी में स्फूर्ति कैसे हो। साधु विनोबा की इस बात का उत्तर क्या हूँ।—

‘मैं तो नीधाम पर लिखना हुआ हूँ।’

वह लो क्कान्ति का आकर्षक रंग लेकर ‘तन्मय’ परिवर्तन आ गया। साहित्य के दर्पण को वह अपने से प्रतिबिम्बित करेगा तत्त्वज्ञान की वाणी को अपने गर्भ से गौरवमयी। वह पतन से परे का रक आ रहा है। कल्पना, स्फूर्ति की हूँची लेकर प्रकृति को सतेज व्यक्तित्व के आकर्षक रंग में चित्रित करने उठ सड़ी हूँ है। वह मृतकाल की ककशा म से मी उबल

साहित्य-देवता

पुष्पल पुन रही है; भावी के हरिवालेपन को भी प्रलय से प्रुषित कर रही है। क्या वह मेरे लिए ठहरती ? हाय मे !—

‘मेँ तो नीसाम पर निरुषा हुआ हूँ।’

राजनीति नहीं चाहिए। भाषा शब्दों ही से बनी है न ? शब्द बस है न ? शब्दों के कुछ मानी है न ? फिर ‘राजनीति’ के शब्दों के कुछ मानी नहीं ?
 मोहन चाहिए; राम्य नहीं चाहिए। शब्द चाहिए; अर्थ नहीं चाहिए।
 साहित्य चाहिए; किन्तु उसका आधार राष्ट्र नहीं चाहिए।

गुलामों के खोहार, धीर्य-हीनो के बल, पहरो की बीणा, गूँगो के गीत,—ममस्वर तुम्हे और तेरी साथ को !

इतिहास मे, इसीलिए, राजाओं और सरदारों को लिखा, योद्धाओं और सैनिकों को मूल गया। राजपरिवारों और नवाबी ऐयाशियों को लिखा, गरीबों की बेदमा और बलिदान का मूल गया।

इस दिशा मे अलिदास, माधु, चाणु,—सब कृपा भार लालित्य के नाम पर तेज और प्रताप के फेट मे झुरा भोक गये। स्मृतियों के पाया मे स्मृतियों लहलहाने लगी।

इसीलिए महँ लहर की मर्म-येचिनी लतानियों, शूली के द्वार तक, पतन त के क्रियत लेने आ रही है। आर्यवर्ष, मं दम्भ मने हाऊँ, पूदा हूँ, अत पूम्ब हूँ। मरा बचन कृता। क्या इसलिए कि—

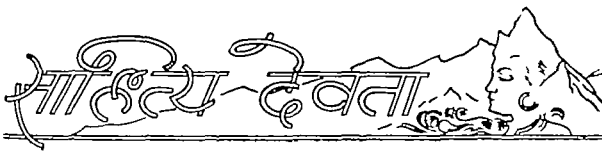
‘नीसाम की बाधो मे मरु मूष्य कृता आवा है।’

साहित्य-देवता

अब इतिहास, कृत्यों में, कलह को कर्मरमता में बदल रहा है। देहातो और शहरों में गलियों और घूरे साफ़ कर रहा है। शहरों में समान जीवन की आग मड़क्य रहा है। पाठारों को पंचावतों बना रहा है। महजनों की महानता को, देवता के प्रसाद की तरह, फ़लू पाई, रमू बोधी और बोधा मेहतर में मुफ़ होकर बाँट रहा है। अब साहित्य, विश्व की उजल पुबल के रूप में समन का सम्देश अपनी पीठ पर लादकर निकला है। उसकी झोली में ब्यास और बान्नीकि है, होमर और अरस्तू हैं, तुलसी और धूर है, बाबरन और गेटे हैं। यूरोप के तो 'मूसेक' भी साहित्य से इतिहास की गॉठ बाँध गये,—ग़रीबों के साहित्य और इतिहास की। गोरी और शाबनबी भारत की बही गॉठ तोड़ कर रख गये। इसीलिए तुर्किस्तान के इमाल की विषय को फ़राज्य बनाने भारत के रहमू और अदिर की पसटन गई, और अफ़ग़ानिस्तान के अमातुछाह के सर्वनाश को दशपन्द के मुह्ला पहुँच। क्यों ?—

'क्योंकि मैं अपने को मीछाम पर बढाये हुए हूँ।'

मेरी बाखी तो 'छन-जम' के मठि बैन बासती, नंगी औरतों से सरो-बरो के पानी की नाप करती, और दिगम्बरा-बासाओं को रंगा में तिरा कर उनको त्रिपेशी बनाती। जगत का मारा मले हो, महाराज जगतसिंह लुग होने चाहिए। नीलामी पशु हरी बास के लिए बचा-बचा म करता। इस समस्त क्रीचक में से कमल की तरह अविचर मधमृति के पद पर पद रखकर महाराष्ट्र सप्त कृषि रामदास का दास-बोध मूपय्य के कुछ पधों को लेकर आर्य-जीवन के अनार्य फतन के खिलाफ़ गूँज मचाता आया। पर रास्त्र के



मानव को शासक का दानव जब बलि देता ? राजा परमेश्वर या प्रजा गैंगी मेढ़ घनकर उसकी मूर्ती पर कट आने की चीज हा गई । उन दिनों नाच था, रंग था, आमोद था, प्रमोद था । राजा तल्लीन था । साहित्य उस समय क्या कर रहा था ? वह इसी पिमोनेपन पर, मस्तिष्क की तरह मिनमिना रहा था । तिरुवञ्चिपर, तुलसी, मीरा, नरसी महता, बिद्यापति तुकाराम और नामदेव और न जाने कितने साधक आये, जुड़े हुए हारों और धुके हुए मस्तक से । वे कुछ जैसा लीज सके पर मुगल, राजपूती और हों, पहाड़री के तब बरहते, पकले हो चुके थे । तब मुन्डे भी किनोद, बिलास और बारुणी की बस्त्रत क्मों न होती ! इसीलिए—

‘मैं नीजाम पर बसा बला आ रहा हूँ ।’

राज इतिहास की इस पामरता में भाग लगानेवाली भोगुलिबाँ भाग आ गई है—साहित्य क कुम्भीपाक में भी । ब्याकरण और पिगल के नियम उस समय लोगों को बाँधने के लिप लीक रह और अपना अचिह्न भावना रहे हैं; जब तरुणार्थ बाक्यों की नहीं, लोह-तएडों की गुह्यलाओं की प्राणों तक के मोल तोड़ने पर तुल पड़ी है ।

अब महारज की वस्तु महानता के भ्यक्ति, और मदमस्त संस्थाओं का तेजस्विरता के घाट उतरना हागा । ऐतिहासिक स्मृतियों, रसीली कविताओं और मनोहरा-व्यक्ति को यदि किन्दा रहना है ता पतित होते हुए पाषियों क लिए मही ऊँचे उठने हुए मस्तानपन के लिए मसाला दना हागा । टकसार्गी नियमों लक्षणों और नियमों के उस पार भी, जगत् है एक पड़ा जगत् है ।

साहित्य-देवता

उस ओर आकर नवीन-सृष्टि करनेवाली नई रेलों और धे-मूँछों की दुनियाँ पत्र न देने पर समाज को सेतु बँधने पर लकड़ी-मत्वर बना लेगी और साहित्य को पीर रखकर ऊपर बढ़ने की सीढ़ी। राब-मृंललाओं को पहनकर भी, वह लकड़ने पतन के खिलाफ इस पत्र में जायेगी और 'मविप्य' की बीष्या के समाज, साहित्य तथा और राजनीति के तारों को—बीष्या के काम उमेठ कर भी मुक्ति का स्वर गुँबाने के लिए वाप्य करेगी। ओ हम टुकड़ों के मोल मीलाम होते आये हैं क्या हम 'मरण-त्यौहार' की क्रीमत पर, 'अमरता' के माव, लरे न उतारेंगे ? क्या इसीलिए कि :-

'हम नीखाम पर चढ़ चुके हैं !'



साहित्य-देवता



अथ रसधंती घोल उठे

वे करते हैं कि तुम मुझमें लगनवाली गाँठ है, किन्तु मैं दखता हूँ कि तुम तो मेरी लज्जा रसनेवाली बहू बादर है कि जिसमें गाँठें लगाई भी जा सकती हैं और उड़े खोला भी जा सकता है। तुम बाल्य है जिस ऊँचा उठाकर मैं पञ्चान्त में स्वरूप-दर्शन करता हूँ और जिस सुन्दरता से सपन कर मूरख की सी-सीं छिण्णों में सर्वस्व दर्शन करता हूँ।

तुम्हारी मिठास का एक पसा अटूट रूप है; आ अनन्त प्रयत्नों के बाद भी अँधो पर पेना भूलता-सा, हृदय पर पना लटकता-सा रह जाता है कि तुम पर किसी स्वामाधिक, किसी महान, किसी निर्माणा किसी पिस्तून, किसी रक्षा, किसी करुणापन किसी दयासागर की कल्पना करता और बायीं-बायीं मामूम हाती है। उस समय तो मेरी तुलना उस शक्ति से बन रहा हूँ कि निर्मल सी हाती है जिसकी मिठास से जिसका आधर पुदा नहीं दिया जा सकता।

अप मुझे औरों से भिन्नक मामूम हाती है तब मैं तुम्हें अन्तःकरण गुना लपेटकर अपने का आत्मको से दिया जाता हूँ। किन्तु, जब मैं तुम्हें समर्पित जाता हूँ तब सिसक और मुमक के तान-यान से बनी स्वरूप-रूप की स्थिती बादर पहनकर अपनी ही माप के अपने आगा-आगा के सामने लड़ा जा जाता है। ताग पूकने के, मेरी बायीं कुद-कुद से उठे है। किन्तु, उस समय वह पानी से बूझा करती है आग-आग से उठे मिथिनी रोना करते हैं।

अप मेरा प्यार मरहे बालक की तरह तारी पुनर्जित के रूप में

साहित्य-देवता

उत्तर उतरकर बढ़ा करता है तब काल के अनन्त पदों, उठ उठकर मेरे संकेत का स्वरूप-दर्शन किया करते हैं। पौंच मर्हाने और पक्षपन भरस, इन दो कटोर अन्तरो का रत्नकर मी छांटा-सा लिखाना, नन्दा-सा पन्था समय की बढ़ी-सी गठरी की गाद में लेप सज्जा है और उसे मों कहकर, उससे अलग उत्पन्न होकर मी उसकी गाद से, उसके हृदय तक अस्तित्व की एक सर्षी रेखा लीप सज्जा है तब मेर पंथ में रुकवट किये लड़ी हा सज्जाती है।

तुम्हें ररक होता हांगा, अनजान घणोही ! कि कितने सनह स सना हांगा मेरा मार्ग ! पर तुम क्या जानो कि मैंने पाकर कुछ नहीं पाया, लाकर पाना ही मेरे मिथस का इतिहास है। यह माने की धूल बिखर कर और रूपे-सा अमृत चाँद के कटोरे में मरकर तुम किसका स्वागत करने आ रहे हा ! अन्तर के बेमथ के सम्मुख मह सारी देन मिलारिन है। अन्तर के प्रच्छरा पर सूर्य आर चाँद दोनों ही दा कल पन्थ हैं। मुझे तो संकेत बहाँ बुझाया करता है वहाँ प्रकृति का पाबलापन कइता है, वहाँ मत्त आ। मेरे पंथ का द्वार नहीं हाता और यदि हाता हो ता वह बन्द ही हाता हांगा। मेर ममूल आनवाली रुकवट ही मरी सावधानी है और उससे टकराकर मेरे मस्तक पर आने हुए पाष ही वह वेदना देते हैं जिससे उत्पन्न होनेवाली उसासो की एकत्र कर, मे भाषो क गरीबखान का इतिहास बनाया करता हैं। मेरा प्रियतम आसमान के नक्षत्रों में छिपकर नहीं बैठता, वह योगियों के मना मन्दिरों का मी मुतसारी नहीं। वह तो बड़ो रहता है। इचर से आता-सा और उधर से रुठकर जाता-सा। मे उस प्रतिक्षण अनुभव करती हैं। मेरा दिलदार चिंतित क परे ही नहीं किन्तु वह उम्र के परे मी निवास करता है।

साहित्य-देवता

उसे नग्ना देतकर, उसकी तोताली बोली सुनकर और उसे पुढों के पल भोगन में जानकर सूर की दीगने लगता है और तुलसी पृथ से मनुष्य बन जाता है ।

* * *

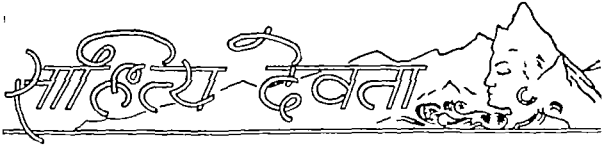
किन्तु आज तो मैं तुम्हारे दरबारे आया हूँ । अनहान-से तुम, बरा होने-स बनकर पैठ आओ । युधि के रम्भों से सभी और विनोद के लिनकों से लदी तुम्हारी शोषकी में, मैं चाहता हूँ आज तुम हा और तुम्हारे विधा और कई न हा । मैं सद्बुद्धय युग की बुद्धि की जीम बनकर तुम्हारी इतियो की निवास का स्वाद लने आया हूँ । बोल दा, एक पार बोल दा । यह तो समय का क्रम हागा कि यह उसे अनन्त-युगों तक देत ल और जीविन सासों का क्रम होगा कि ये उसे दुहराये । बिना परोवाली अपनी उस बाली का, बरा नगाधिराज के मस्तक पर पढ़ने दो और उरएह आनन्द सोजियो का आमेधित करा, कि ये तुम्हारे आंगुओं में पढ़कर नानेवाली अन्तर्बेन्ना की निवास में न हूषन का प्रण करके आवें । ये मर्यादा की क्रम साक्य धर से चले, और मर प्यार ! यह उठा एक पार ! और जादू से पनटकर गिरा अनयन मयन पितृ बानी का एक संसार पसा दा । जेलखानों में पण्ड हाकर, आलापनाओं की बहारदीवारियो में बंद हाकर, नहीं, भका फ चोटदार तार तुम्हारे पारों तरफ पर की तरह लग जान क परपात भी, बरा दशरथ बन जाभा, राम क पिता ! और अपनी बचनयुक्त कल्पनाओं के रयों से भावनालोक की दशों दिशाओं का क्यना-क्यना खूँद डाला । यह रम पसा हा पसा इन्पर हा, कि तुम्हारा युग यदि उसने पैठकर स्वर-मंथार न का पाप, ता नित्य पढ़ते जानेवाले पण्ड की तरह यह उम दिशा में बढ़ता

साहित्य-देवता

अब हम जला भावे । बिज्जा पड़ने दो कुछ को कि तुम्हारी बाणी उदयक दे,
 परम स्वतंत्र है, वह स्वयं नहीं है । तुम अपने द्वारा निर्मित जमाने की आह
 को भी अपने मन्दिर पर चढ़ने की सीढ़ी बना ला, और वाह को भी, प्रहार
 को भी, उपहार को भी । उम्र के वरसों से कह दा, कि तुम इतने नभूँ हा
 कि तुम्हारा अपमान नहीं हो सकता । किन्तु, एक बात और कह दो—
 जमाने के तुम निर्माता हो, तुम ही निर्माता हो ।

तुम्हें पता रहे कि बोली ज्ञान के घाट आकर कुछ और होती है और
 इक्षम के घाट कुछ और । ज्ञान की पनिहारिन, दिग्गज की शाय-तरंगों
 पर चढ़कर, बम्परहित रूप से दोड़नेवाली पति है । उद्यम से लून माफ
 है । किन्तु वह अभी अभी है, और अभी नहीं है । किन्तु, लूफ के कंटीले
 रोपे में से अब कसिबों पटलकर इक्षम पर आना करती है; तब वे कितनी
 ही बार इक्षम होकर ही आना करती है । प्रतिभा की मय-मयू, स्याही से
 सास जेसा और क्यारा से ससुर जेसा मय मागकर पद-निवेश किया करती है,
 किन्तु बाणी की स्वच्छन्दता में कितना फटार मरण है, स्याही और क्यारा के
 मय में अनन्तकाल को वेप सफलवाली उतनी ही महान् अमरता है । वे पन्न
 है किनकी बोली, हवा पर से भी, अमर रहने का क्याराओं पर उतर आती है ।
 किन्तु ज्ञान की स्वच्छन्दता पठन का ठोकर नहीं है । ज्ञान से उठना ही वह
 कारिए, बिसे करि मुग बाग़ पर उतार दे वा वह अमर हो उठे ।

तुम्हें इक्षम के स्नेहियों के आर्च्यस का संकट ही एसा होता है कि
 बिससे हय भोलें रलकर भी मूरदास पन जाना करते हैं और इक्षम का



संज्ञाना सुदृढ उठ पड़ने हैं। यह सापेक्ष कि हमारी ईमानदारी से गुजरकर
 आनन्दशाले पागलपन को, हमारी ही तरह, हमारा भोता भी मूल जावेगा।
 माइ मेरे, चाहे पावल्लो की कमी से हा, चाहे कूरो की अधिकता से—पेसी
 दुनियाँ पड़ी मही हुआ करती।

इस दुनियाँ में तो आचार ही होता है किन्तार नही। वहाँ सँसे ही गिनी
 जाती हैं मनुष्य नही।

उम्हें मोखन में आनन्द है, वे मनुष्यमर्षी तुम्हें भी ता जायेंगे; पर
 तुम्हारा तो मान ही आनन्द है।

उल्लास और उदास तुम्हारे आनन्द की ऊँची और नीची तहों के नाम
 हैं। तुम्हारी दुनियाँ छोटी है क्योंकि ज्ञान के कौटो पर लागों से उम्माद के
 पुष्पो का पोछ नहीं सँमलता। 'गैबार'—सोचो की उधान पर साधारण
 राष्ट्र है। किन्तु, सब तो यह है कि हम गैबार होना ही मूल गम।

हम वा ठमी तक हम हैं, अब तक हमारी गैबारी हमारा बचपन अपनी
 करारी वस्त्रां पर हमारे पास रह सके। प्रतिमा का पीषा, इस नन्दन को
 साकर, कहाँ रहेगा। कल्पनाओं का संज्ञाना अपनी पन्थनमुक्ति के लिए
 कौन-सा स्थान देईगा। परन्तु इस दुनियाँ का, तुम अपने का पता
 दो, अपनी ही का पता दो। मर्षो पर, रंगमर्षो पर, इस जगत् को मत
 सोचो।

पेदिमों पर तुम स्नह की सामाजिक सतह का मत हिलाओ दुलाओ,
 वहाँ तो तुम मर्षादा के पन्थिलाने का ही द्वार खालो। उस समय तुम्हारे
 स्नह, तुम्हारे मर्षन, तुम्हारे अज्ञान और तुम्हारे युग का अटपटपन का
 नाम ररन-रत्तक और तुम्हारे मर्याने वालो का मूलने और मिटाने का
 अधिक-म्यापार पलपूर्वक बनाने व परभाव भी, युग का शृंगार संज्ञान

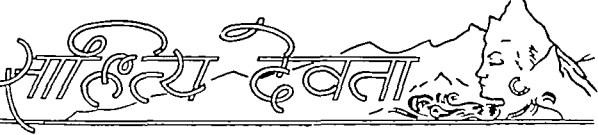
साहित्य-देवता

वाली, मुग के सिपहसालार की बल्लरत पूरी करनेवाली, तुम्हारी ह्मति की अनन्तराधि उनकी स्मृति के द्वार पर पड़ी रह जागी चाहिए ।

ये तो मञ्जूर है । उनकी कठोरता की बलमी से छाने जाने के परभाव, सीदे में समम देनेवाले, तब लुश होना चाहते हैं, जब उनकी बुद्धि के पल्ले, उनकी आमञ्ज मञ्जदूरी से अधिक का माल पड़ जाये, और वह माल भी अत्युच्च, दबताओ का प्रसाद न हो; उनकी रुचने और ह्मम होनेवाली पस्तुरै होनी चाहिए । तुम्हारे विवेक में, तुम्हारे आँसुओं में, तुम्हारे मरण में भी ये सीदागर ही रहे हैं, सीदागर ही रहेंगे ।

* * *

तुम्हारा हृदय-रस कभी पराजित न हो, किसी की 'माह' और 'वाह' पर उसे सुलने देना तुम्हें स्वीकृत न हो । किन्तु, उसमें वह सरलाई बल्लर चाहिए, जिससे माल से-मोले माल तुम्हारी कहन को अपने हृदय की गोंठ में पौंच लें, और एकाम्त की माद की रगड़ लाकर, जब तुम्हारी कहन उगने की में धुकने लगे, तब उसमें सनेह और साहस का स्वार आ जाये । करारी विजय वह होगी, जब मूलन का उदार सादा करनेवाले राहगति में, तुम्हारी कहन पेसी मतवाली, पेसी मारी तादाद में, मस्तानगी के साथ रह जाये कि अपने अस्तित्व के बपों में वे उससे जुदा न ह। सके, और पीढ़ियों की तुम्हारी कहन का सञ्जाना सोपने में अपने को गरबीला अनुभव करें । यही तुम्हारा ब्रह्म हागा; जिसे यदि, तुम्हारे युग की पीढ़ियों—तुम्हारी ही पीढ़ियों हुई तो,—सररती के मन्दिर में अपने अस्तित्व के धूते, उस धुमन का त्योहार मनाने आर्षेंगी ।



नभोमण्डल पर, अरुणत नहीं कि तुम नक्षत्रों की तरह वैची चंद्रियों
 आर वैशे दिनों में आभा, आर साठवम में जन्मते ही, तुम्हारा विज्ञापन हो।
 तुम सर्वनाश के नहीं सर्वप्राण के मूर्ख्य बनकर क्यों न आओ ! पेज गिनने
 वाले प्रकाशक की पुस्तक के पन्ने बनकर आन के बचाम, तुम अपने इमाने
 की उमल-पुमल के सदृश शहक बनकर क्यों न आओ ! उम्भ्य बनकर
 आओ इतिहास बनकर खीट आओ ! तुम्हारा स्वागत करनेवाले बरष,
 आबम्मा करें कि तुम विश्व में किस द्वार से आय और किस जीने पर
 चढ़कर खीट गये।

* * *

तन्मण्डल और चक्रिता य रा बस्तुएँ नहीं, किन्तु एक ही बस्तु के दो
 नाम हैं।

तन्मण्डल प्रतिमा की जन्मनी की गाद है। उम्र के उतार में प्रतिमा
 तन्मण्डल रह सकती है आर अनर अनहानपन के साथ बढ़ती जा सकती
 है किन्तु उम्र के द्वारा जीवन के खील-खीट खील इतना शुरू हान के
 बाद, प्रतिमा अपने जन्म का प्रथम दिन मनाते नहीं आती अतः तन्मण्डल
 का गिरफ्तार करा और उसमें अपने जीवन-वर्णों का द्वार से बाँदा।
 बढ़ती हुई जन्मनी के हृदय और बुद्धि के संयुक्त तंत्र का यदि 'तुम
 नहीं चहते, तब फिर तुम्हारे आगमन का नाम ही क्या दे ? जी का
 दीपक जगमगाता रहे ?—अरे हाँ उसमें मीकटों का तेव पूरा। इतिहास
 की आँतों में इतना भगवत्स का दग ला; और अपनी पाँवों में अपना
 इमाना दगा। दग्गिता, दामला, रग, भंछ, कागगाय, रिशवादापन

माहित्य-देवता

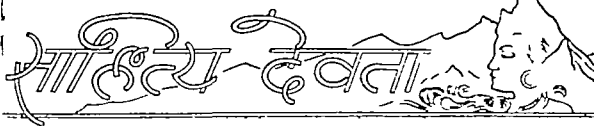
आक्रमण और आत्माचार इन्हीं राहनों को पहिचकर युग की मस्तानगी आजादी, उत्थान और ख़रिता बनकर आती रही ।

सीमा रखनेवाले मानव, तुम निस्सीम का नाम लेकर उसे फलैकित मत करो । इस्लाम खुशो उस दिन, जिस दिन उन्नेप स या वेदमा से, तुम्हारा रफ़ औसू बनकर और तुम्हारे औसू रफ़ बनकर उतर रहे हों । तुम मत बोलो; बोलने का काम करने वाला काम का बोलना नहीं घाला करते । तुम मत बोलो—क्योंकि तुम मृतकाल को पत्थर समझकर भार मरिष्य को महङ्ग कल्पना मानकर बर्तमान के बहर से बहरीले हो । बाले पद बिनकी केवल बीम नहीं केवल औसू नहीं केवल स्मृति नहीं केवल बुद्धि नहीं, किन्तु इन सबको साथ लेकर बिनकी वेएस्तिपार रसपेती बोल उठे ।

भरे, लक्ष्मीरे गिनते हो ! मास ने बंगल हरिबाला करके भी एक अक्ष कण पुष्पी का नहीं दिया । युग के आचारबल के दासी, हरियालेपन की भूख मुलैयों में, दिमागी-मनु बिबरण्य किना करते हैं, पीढ़ियों बिबरण्य नहीं करती । विधाता की वेएस्तिपार फेंकी हुईं पत्थर का बूझा समेटकर बरागाह हरियाले किये जा सकते हैं; और तारे समुन्दर भरे जा सकते हैं किन्तु मानवता के मस्तक उनपर नहीं बुला करते । कर्मि, सैनानी और सभ्त बमान के लिए तो, अस्तित्व की तलवार पर अपने अन्तर का ही पानी बदाना होता है ।

पूजों की तरह सूतकर गिर जाने के लिए क्यो जम्होस्सव मनाने जायें और क्यो मरण्य स्वीकार !

साहित्य-देवता



मिथी में मिल जानेवाले दाने, उपज की हाड़-हाड़ी का गेब खेजा करते हैं और बसाएइ में चमकने वाला नक्षत्र जपन आम-मास के अनेक नक्षत्रों की गति-विधि का संचालन करता है।

रेवा का कल-कल, कभी की चटस, पैसन की लमकुम, बाँसुरी की तान, मृदंग की घुमक, बीणा की मिठास और गर्मरि वादलों की तरह दिखली के वार के साथ, बादल की प्रलयकर हुंकार और इसके परभात् औमुओ की तरह बहार, असहाय, रिमग्मि-रिमग्मि गिरकर, पुन अपनी मातृ-भूमि की गोद में गिर पड़ना, यह एक ही कवि के अनेक अवतार हैं।

* * *

तुम्हारा दिलबर, तुम्हारी कविता, तुम्हारा औसू तुम्हारा चुम्बन, उस चूर्ति में निवास करता है जो तुम्हें प्राप्त हुई है और जो तुम्हारे द्वारा प्राप्त हुई है।

तुम्हारे चूर्ति प्रदाता से बढ़कर भी यदि तुम्हारा पाय काइ काभ्य, काई ईरबर, काई प्यार, काइ बुलार पाकी रह जाय, तो इरबर के लिए, तुम सच कुछ कहला ला, पचार कवि राप्द का पनाह दा।

यदि आशिकी में तुमसे दीवारे न लौरी जा सकनी हो, और दिलदार क पूजन में पुणों की तरह रक बिन्दु न पदाय जा सकने हों तो तुम मय रासों का दू ला किन्तु, बीणा का हाय मन लगाओ।

तुम समुन्दर पीथ सकने हा, बटबूट के मीथ महापाथि पनकर समाधि ल सकने हा, कलम पर टैंग सकने हा पर भाइ भरे, तम मन्-मन्दन नहीं कहला सकने। त्याग महत्वा लकर मन्-मन्दन मापन आने हैं, तुम्हारा ना माय ही मन्द-मन्दन है। मूय का भान और मीग की भाषा ग्यहर न कवियों का

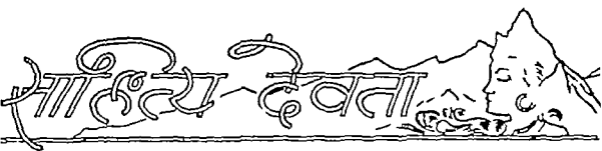
साहित्य-देवता

दिलदार कहीं आया करता है; न कृषि कहीं आया करते हैं। हों मूलों की वेदना जिस दिन उनके हृदय से बढ़कर आँसों पर आती और आँसों से मुखा पर उतरती है उस दिन वह झाला, एक ऐसा मूकम्प करती है या बड़ी और छोटी, खरिमती और बेखरिमती महत्ता को धूल में मिला देती है, और, सोने और चाँदी के लादवाली उस जमीन पर वह मस्तानी तरुण्यार्थ दुग्धसेत्र और हवाई जहाज 'बोया' करती है।

किन्तु, न वह राजनीति होती है न अर्थ-शास्त्र। उसका तो अपनी ही लहर-लहर का सोदा है। जिसकी वेदना में भी मिथस आती है उसके प्रलय की मिथस भी निराली होती है।

उसकी बीघा के तारों में वह, तारे पितोकर मित्रराज मारता रहता है, क्योंकि कुछ बेचैन-सा, कुछ पावला-सा, कुछ पत्कर-सा, कुछ उतावला सा, कुछ लुली आँसों अनदला-सा, कुछ मुँदी आँसों से देलता-सा, कुछ खोहारों पर रोता-सा, कुछ मकड़सों में मुक्कटाता-सा, अपनी हलम के झले आँसु, सूरज की किरणों की रेंवारेने के लिए वह टपकता ही उस दिन है, जिस दिन उसकी रसबंती बाल उठती है।





वसुधा की पालतू काव्य

मौसम में उत्सव हानेवाले वृष्टो, फसों आर जीवधारियों की तरह मौसम में उत्सव हानेवाली कला त्रिकालबाधित या अमर नहीं जाती; वह सृष्टीजीवी होती है। मौसम बदला नहीं, कि वस्तु मरी नहीं।

कला कर्मी बहुत ऊँची हो जाती है, वहाँ वह वृष्टो की झुगनियों से पिरामिडों और पर्वों से पक्षियों और वायुयानों से बातें करती हुई नक्षत्रों तक पहुँचती है। कहीं कला बहुत गतिमान, दौड़नेवाली होती है; वह अपने प्रकटीकरण के विस्तार में, नदियों और पहाड़ों को लॉपर पहुँचती हुई बड़े बड़े समुद्रों को लॉपर समझ सके, या समझ रखने के अंतिम कोण तक पहुँचती है। कहीं कला अत्यन्त गहरी होती है—बहु मणिपरो की तरह, गहरी-से-गहरी जैपेरी गम्भीरता में उतरकर अपनी पहुँच का प्रकाश, जमीन पर डालते हुए मानव के पास तक पहुँचती है। कहीं कला, क्षमल भाव व रंगों के जल की गहराइ में उतरते-उतरते ऊपर रत्नों का सञ्चय में सफल होती है, जो रत्न युग के पत्नी से नहीं लाई जा सकते। किन्तु इस ऊँचाई, इस गति, इस गम्भीर्य और इस गहराइ के अत्यन्तानाश में ही प्राणुजन कला का निवास है। 'अ' को अक्षरमस कहा है और क्षल तथा कला में केवल 'अ' का मात्र अपना स्थान बदल लेता है। कला तो समझ के क्षल का माप है।

भूतना, इहम करना, साँस लना, देगना, मुनना, पिल्लाना, पदन का सिखाइना, पदन फँसाना, रग-रग में रक पहुँचाना,—ये बातें, मानव का चिमी स्कूल में, क्रिमी शिक्षक के द्वारा नहीं सिखायी पड़ती। कहते हैं, वह

साहित्य-देवता

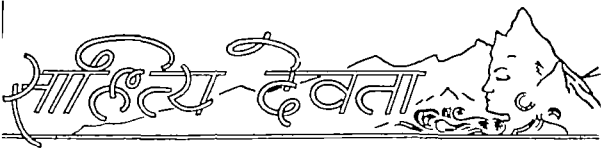
घाते मनुष्य, स्वभावजन्य करता है। तब कम-से-कम हमारे कल्पन, हमारी वाणी, हमारे साहित्य में तो रत, महद्य शक्ति जीवन या तादृगी, दृष्टि-श्रेण्य या अपत्यस्य तक देखने की शक्ति विश्व के इद्यों, क्षयों और घटनाओं की तथा अंतरतम की अग्नि विश्व की और परिस्थिति की कराह या पीकपर, इतरत पर विस्तृत हो जाने और परिस्थिति में सिक्कड़ जाने की शक्ति, पहुँच के विस्तार में भौगोलिक और मानव-धारणा के घन्घन लौघ जाने का चल और माला बनाते समय पृथ्वी के फलेसे में से जानेवाले धारे की तरह वस्तु वस्तु में व्याप्त हो जाना यह गुण्य तो हमारी रचना में 'इन्स्टिक्ट' से—स्वभावजन्य—आने चाहिए।

नोचना, पाटना, डुम हिलाना, रोना, कराहना, झीकना आदि जो से अधिक होनेवाली क्रियाएँ भी हम अपने आप ही करते हैं किन्तु इन पर जीवन-यापन करना, साहित्यिक कर्म, अपने पूर्व-पुरुष, पशुओं की विरासत इत्यम रचना ही कहा जायगा।

अप से झाड़ों पर चढ़ने की आदत छूटी, तप से हमारी कल्पना ने हरी-हरी सफ़ल झालियों पर लम्बी झलौंग मारना भी छोड़ दिया। अथ हम बनी हुई सड़क पर आराम से चलते हैं। लीक-लीक ! सुपुत्र जा उधरे !

हाथी और घांसे झाड़ों पर नहीं चढ़ते, किन्तु हम प्रयत्न से चढ़ सकते हैं। यानी हममें 'स्व-भाव' तो है किन्तु झलौंगें मारने का अभ्यास मर छूट गया है। स्वभाव के परे अभ्यास को पहुँचाकर हम प्रयत्न-जगमा नहीं हो सकते ?

दुनिया की बंमच-मलेर में पशु-पक्षी, पट के बल रेंगनेवाले और कीड़े मकड़ों से सभ चलते हैं। क्या हम इसी तरह त्रिन्दगी बिता देंगे ? क्या हम



परिस्थितियों को खुद उत्पन्न कर उन पर अनिवासे 'मानव' 'नहीं' हो सकती। फिर हमारी कल्पना से तो वर्षा-पतित, मृमि-दूषित बल ही निकलेगा—पाहे किसी रूप में निकले। उसमें से एक, और जीवन-रस क्यों टपकने लगा।

पशु गर्मी, सर्दी और वर्षा—साधारण से सहता है; किन्तु मानव अपने जीवन के तापमान का नियमन करता है। वर्षा, शरद और ग्रीष्म में वह अपने शरीर और रहन-सहन में स्वयं तापमान का विन्यस्त और निर्माण करता है। तब बुद्धि और जीवन के अंगत् में तापमान निर्माण न कर सकने वाले यदि पशु-जीवन न बतावें तो और कौन-सा जीवन उनके लिए श्रेय है। तापमान निर्माण करने के पथ में, मानव ने पहले आगी हुई। प्रकृति के अनुकूल, अपना मौलिक तापमान हँदने के लिए, मानव ने आग बनाई। शरीर की गर्मी ही ने उसे सिलाया होगा। क्या हम भी साहित्य को मौलिक, अमर, दर्शनीय बनाने के लिए, अपने अन्दर और बाहर के तन्तुओं की रगड़ से आग बना सकते हैं। बुद्धे जीवन को तो अस्तित्वमान मरण ही कहना पड़ेगा।

मनोभावना के अज्ञान-उतार की मौलिकता को सबसे बड़ी हानि पहुँचाई हमारे अज्ञान-उतार रहित जीवन की नास्तिक सुविधा ने। कठिनाइयों उपजा कर, उनसे विविध बाहुओं से खेलकर, न जाने हममें कौन सी शक्ति, कौन-सी प्रेरणा, कौन-सा आविष्कार आगता। किन्तु हा, पी और मौख से रहने की पतित मनाबुद्धि ने, विचारों की क्रियाशीलता को अन्म दन कबजाय विचारों की प्रयाशी का अन्म दिया। विचारों के प्रगटीकरण में हम छिन पाँचवा कि समाज साहित्य, धर्म, तथा राजनीति—छिनी धन में संकट गढ़े करना ही नहीं चाहते। परिणामतः हम आगे हुए संकटों के प्रारम्भिक

साहित्य-देवता

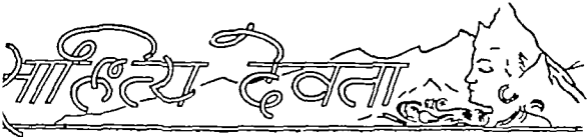
प्रहारों ही में प्राण दे बैठते हैं। सुविधा और आनन्द के मागी मौलिक भाषा में हुए ऐयाशी और नास्तिकता।

आगी से दियासलाई, फिर दिये या मोमबत्तियाँ, फिर गैस, फिर बिजली—हमारी आविष्कृत मूल अग्नि के शोष पर, कैसे कठोर अग्नि-संस्कार। परिणामतः भोजन, मजन, भागना, भरना, मारना, छप कुछ मशीनों से होने लगा। इदमवाम मानव के नाश का, विस्फोट कड़ा आने लगा।

बरबराते हुए, यदि कहीं दूर बंगल में आग सुलगती दीली। वह छाल पीला-सा प्रकाश। और बिना रास्ते की प्रतीक्षा किन्तु बस पका मानव जसी और। उसने सम्पूर्ण से मुड़ना, उँचाई से चढ़ना जाना, अब राह में गदी या पहाड़ मिला गया। फिर घोंप, शेर, कौंटे, लंदक—सब तो पुरुष के पक्ष में—असमं पुरुषार्थ निकला। उस दूर दिकनेवाली आग में, फिर उस बीहड़ मार्ग में, फिर शीत की आधी रात के धमम, एक किरात-बुदा की मछोपड़ी के आँगन में हाथ सँकने के लिए अंगारों के मिलन में—एक-एक में क्षिति का क्षम्य। पनबत्तियों में गैस के बूँदों में और बिजली के वाहनों के भीचे—हमारा क्षम्य न आने क्या हो गया। अब हम कषिता-पंक्ति में यदि तल बार का नाम बताते हैं तो हमारे मर और सुखोमल हाथ, हिलती कमर और पुँपराले खटकते बाल मानो हमसे आगे कूदने दौड़ते हैं—

“बरना मत मुए, यह तसबीर की तलबार है।”

हम विक्रान्तरी का पहाड़, नक्ष्त्रों की नदी, और बल-बिजों के पर्दे, अपनी रचनाओं में लिखते-लिखते, यहाँ तक पहुँचे कि माचों की रगड़ से माचों के टुकड़े पुराने और आँसु के भाव कुशलता से परोचने ही का अपनी प्रतिमा कूदने लगे।



हमने अपने जीवन का अधिक भाग ना-कसरी महत्व की चीज समझ कर बिता दिया। और चिन्ता और सुष आई ता शक्ति और सौंसे ना-कसरी रह गई भी।

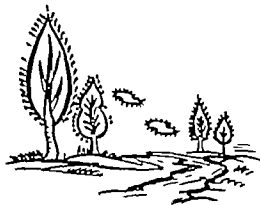
प्रतिमा हीनता में हम अपनी साम्यता की कमी अपने आत्मिक द्वारा पूरी करते नजर आते हैं। उस समय जो भाई शब्द बोलते हैं, वे भी इनार अपने मही होते, अत उन्हें रहस्यमय, दा अर्थों या अनक अर्थोंवाला बोलने लगते हैं।

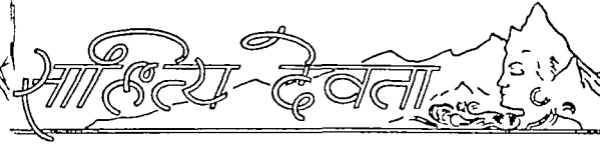
हमने मछली, कछुवा, शूकर—न जान किस-किस में, अपने प्रभु का कल्पना की। किन्तु हम मूल ही गव कि य हमारी पहुँच के अन्तर्गत हैं—जल, भल और न जाने कहीं-कहीं के अन्न-गामी। किन्तु हम तो रेल के बच्चे में, दाईं द्वारा पैदा कराये गये हैं। किसान की-सी विलसृत, मल्लाह की-सी गम्भीर, बागुबानी की-सी जैसी मजर हममें आये कहीं स। तिसपर भी हम हैं साहित्य के आपार्थ ही।

पही प्यो, निर्य की कठिनाइयों में रहकर, पुत्रार्थ का शरीर पर उतारन का उदाहरण स्तनधाम पशु-पक्षियों आदि का भी हमने मानवत्व प्रदान किया। उन्हें पालनू बना डाला। वे इस बात के उदाहरण हैं कि पालनू साहित्य कैसा होता है। तासे सांगाराम पार्थे—पर निरङ्क कसुल द्वारा उड़न की शक्ति ही नहीं। मछली कुँए में आकर तैर-तार मले ही ल, किन्तु मालिक ने जब बाह्य पकड़ कर मार ली, या कुँए का पानी सूखा, और पक्ष खनम यह भी-वो पानी की दीड़। पिय हा या गाय शान का सूँटा दूढ़ता पया आव। पाड़ा अपने पर पड़नवाला काड़ा मुँह में लहर, प्रहाक मरकम पाल क आम

शक्ति-देवता

वास माये । हाथी, रोट और मुहताब और अंकुरा से मे-सवू । यह कसुया कर पालतू कस्य है, बिसकी रचना मानव न की है । तब उसकी दिमागी इति के बिपय में अधिक क्या कहा जाय । उसे एक ही विशेषण करनी है—यह पालतू' चींजे लिक्ता है । तब कला की दुनिया में पर्वतों से कौन टकराये, नदियों का प्रवाह किसले धरे, और नक्षत्रों से कौन कानापूसी करे ।





असहाय नाश या अमर निर्माणा

यदि तुम्हारी बहक मीची मन की तरंग हाती, ता तुम माफ किये जा सकते थे। हानि-रहित और भ्रान्तदोसादक उयल-युयल का ही ता बिनाद कहेगे। किन्तु जहाँ घूमता हुआ पशु नहीं पचड़ाता, ऐसे सुनसान में मानव पचड़ा उठता है।

विचारों के आवाहन के एकाम्त में हम किससे पचड़ाते हैं? क्या अपन आप से? नहीं तो किससे? फिर जो मय रात में है, वह दिन में नहीं! और यह हमारा शोक, वर्षानुवर्ष शाकसमार्पण और धास करना! इसके बाद, यह मानव का मानव के द्वारा संगठित नाश, और प्रभु की इच्छा पर, इस नाश की सहमति का आरोप। ये सब बातें कह रही हैं कि इन वस्तुओं की दूसरी भाव है। यह यह कि हमारे हाम में रहनवाली कलम पर जो उतरता है, वह इसी पचड़ाइट, इसी शोक और इसी रक्त-विपासा के समर्पण में निरुलता रहता है। मय की कमी, हमें हर्षित करती है और उसका अभाव हमें सुखी। शोक से बाहर निकल आना हमें हर्षित करता है और कमी भी शोक न होना ही हमें सुखी। 'लून बहाने योग्य' का लून पहाना हमें हर्षित करता है और उसका कमी भी सिर न उठा सकना हमें सुखी।

किन्तु परिणाम के तुरत में हममें जा कायरता बाइ उसी में हमें पचड़ाता हुआ, मयाकृष शाक-मूर्छ और लुनी बना दिया। यह हुई एक बावू।

यह काम्य चाहे देवी न होकर राक्षसी हो, किन्तु कुछ तो है।

साहित्य-देवता

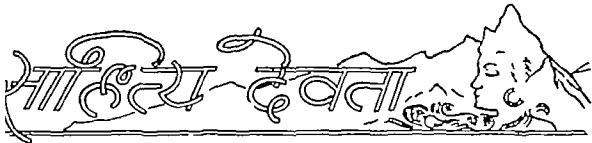
मेंडिल न हो, किन्तु मील का पत्थर तो है। जिनकी कलम पर यह उतरता है, उनकी कलम पर कुछ तो उतरता है। मामय, 'अपने मन का'सा कुछ तो ऐसी रचना में पाता है। किन्तु अब हमारा विषय देखो कि विरह की युक्तिओं न मुलम्मा कर, हम 'असबर्ह पन्नल' का-सा साहित्य लिखने लगे।

यदि पूर्णतः से टकराने से मानव धयदाये, मदियों का प्रवाह रोकने में लगने वाली कोठो से उठे शोक हो और नक्षत्रों की ओर अपने से जैसे उठनेवाले का यह स्वर्ण में खून पीने दाड़े, तो फिर कलम किसके हाथ में दी जाए ?

और कलम हाथ में लिखे वॉर काम तो चलेगा नहीं। जगत में मानव चाहे पशु की तरह उपजावे गये हो, किन्तु मई बस्तुर्से निर्माण कर मानवों ने विधि के विधान को अपने हाथ में लिया और उसमें विपमता उत्पन्न कर दी। हम मीठ-कड़वा ही नहीं, उपयोगी-निरुपयोगी समझने-समझने लगे। इमीन से सीता हुई या नहीं हुई, किन्तु धार्मिक की कलम से जो सीता पैदा हुई, उसने सामूची जाति में भर-भर, कम या अधिक प्रमाण में, उत्पन्न होना आरम्भ कर दिया।

हमने रब लिला या कि मोटरों, रेलों आगई; नाच लिली थी, कि बहाइ चल पड़े, और पंक्तियों को देलकर पलेग उड़ावे से कि हवाई जहाइ सर पर मेंडराने लगे।

जब हम जीवधारी से तब हमें चाहे विधाता के विरह में बनाया हो, किन्तु मानव होकर अपनी कलम से हमने विधाता का विरह बनाना शुरू किया। अब या तो हम, विरह के उचित सप्टा, उचित विधाता, उचित निर्माता बनें, या फिर विरह का बोझ न उठा सकनेवाले कमबोर बस होकर



विरह को फिर जीवधारियों का विरह ही जाने दें, प्रतिमा की सतह पर उसका मारा कर दें।

आज के प्रथम बन्द ! बोलो तुम्हारा नाम क्या है ! असहाय मारा या अमर निर्माण ! मानो कि अब तुम्हारी मर्जी पर कुछ नहीं छोड़ा जा सकता। तुम निरंकुश रह सकते हो, निरंकुश यदांशत किये जा सकते हो, निरंकुश जीने दिये जा सकते हो, प्रतिमा की अपरिमित दौड़ की दिशा में, प्रतिमा के अभाव की ओर नहीं।

हर माता, माता है, यदि वह अमनी है। और यदि अननी है तो प्रेम के अतिरेक और मातृत्व के दावे के बीचोबीच प्रसव की वेदना और संगोपन का कारागार निश्चित है।

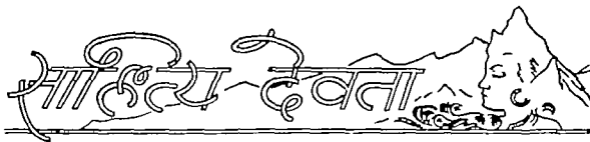
यदि साहित्य के तुम अनक हो, तो धोला, अपने गर्म से जापानी तिलाने जमोगे, अथवा अमर मानव का प्रस्तर अस्तित्व !

प्रारम्भ का प्रसव, मानवता का प्रथम संस्कार ता तुम्हें नहीं लिखना। जिस तरह, हर त्योहार पर भारतीय संस्कारों और युग की मानव धारणाओं के तह अब जाते हैं, और वह सहस्रों अर्थमरे हा उठते हैं, उसी तरह इन्तम के पथ में अनंत युगों के दरारम मे, दरारों दिशाओं के द्वार खल रहते हैं।

गगन-विहारी ! अब सो तुम्हें गगन-विहारी भर हो जाना है।

जीवधारी मानव उठा बा, और उसने आग और आइ हुई थ। वह पौष के पल बभता मा। ऐसा कि बिनोबा कहते हैं—परमा, पत्नी और बूल्हा, प्रारम्भिक मानवता की मानव को दी हुई विरासत है। किन्तु एक दिन पौष के साथ, मानव का सिर या दिल, या दानों, पत्र।

सौ-सौ परसों के सहस्र-सहस्र तहों में से झोंक का दगा, सिर के



निचारी की एक मुनइली बंकीर-सी लटक रही है, जिसका गाम तुम्हारी सृष्टि, तुम्हारा निर्माण, साहित्य, कहा जाता है।

उस दिन बाहर झँकते-झँकते, हमने भीतर झँकना था। सौँस से गुजर कर डरते-डरते हम दिल में गने थे। और एक गौँठ लोस दी थी। उसी दिन से हमें लुझी झँलों दीलते-दीलते, मुँदी झँलों में दिखने लगा।

उस दिन, सौँस में से गुजरने के लिए, हमारे मन में 'क्यों' का उदय हुआ था, और सौँस से लौटते समय, हम अपने साथ 'इसलिए' लाये। यह हमारी, प्रथम बन्दों की भाग थी। ये हमारे बूल्हे और पक्षी थे। माना कि हमारे 'क्यों' ने बजस और बेबजस नहीं देला और हमारा 'इसलिए' प्राण के नाम पर सर्भनाश और प्रलय में लाया।

मानव पुनर्बन्ध माने या न माने, किन्तु साहित्य तो पुनर्बन्धा रहा और फिर रहा। किन्तु प्राण के नाम पर नाश लाया भी, प्राण ही लाना था। यह दिमागी बूते बनाने वालों ने नहीं बनाया हो; किन्तु प्रतिमा ने बनाया। क्योंकि बिप की शोष करने वालों को गाली देने वालों ही ने फिर बिप के अमृत की तरह उपयोग के शोष किये।

ठीक भी है, कोलम्बस की यात्रा ही में मौलिकता थी उसके अमेरिका मिलने में नहीं। यदि अमरीका न मिलता तब भी कोलम्बस के अमर हृदय पर, सहस-सहस अमरीकाएँ न्बोधावर थीं। इसी तरह 'क्यों' लेकर जाने और 'इसलिए' लेकर लाने के प्रतिमा-जगत् में, गति ही प्रभु है और प्राप्ति तो भाव का पुत्र, कल का देवता, और परसों का मील का पत्थर ही बनने वाला है।

साहित्य-देवता

इसी प्रतिमा ने, जीवधारियों के मले या बुरे जगत् से हमें छीन लिया। हम कष्टरूप और उपाय के दीवाने हुए। और उस दिन हमने अपनी पारथा बनाई। लोगों ने कहा, यहाँ रवि नहीं जाता, वहाँ कवि जाता है। किन्तु हमने वहाँ, जातियों का जन्म दिया।

जो पारथाओं के मुलाम बने, उन्होंने मङ्गल्य बनाया। जो पारथाओं के शीश पर बढ़, शोष में भागे बढ़े, उन्होंने कला का निर्माण किया। धर्म बोला, मैं विस्तृत हूँ, कला बोली, मैं कल्पना हूँ। और आदम और हाँवा की तरह दोनों देखने लगे—दूर तक क्या है? यदि अज्ञान है तो जन्मे जलो। और यदि घुरा है, संकट, मय है, असाध्य है तो उपाय क्या है?

पुरुष ने कहा, 'उद्धार'; प्रकृति ने कहा, 'बली'। पुरुष मङ्गल्य बनाने लगा, प्रकृति उसे सजाने के लिए भाजन, मजन, और गति के लिए शृंगार की 'साज' में लग गयी। परिणामतः जहाँ तक कला जाती—धर्म को भी वहाँ तक जाना पड़ता।

भाई मेरे, क्या आज ही पूजा बाल दागे? यदि न बालोगे तो, बज्र गति, बज्र-जन्मा, बज्र-भ्यापी, बज्र-मर्दन हूँ दे क्या सुगहारी कल्पन से नहीं उतरेंगी? मुहम्मद की इलहाम हुआ था, अप्रियों ने प्रकृत्य दरता था—आभा, आज तो पस-दर्शन तुम्हें ही करना होगा—जन्म के, जीवन के, उमार के, उपहास के, रवि के, अल्पि के, मोद के, मरण के मूल्य पर।



साहित्य-देवता

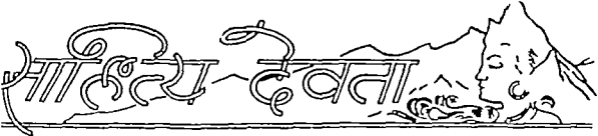
खन्देक्ष-वाहक

तुम क्यों हो ?

क्या तुम ज्योतिषी हो ? तुमने जानेवाले जमाने के बहुत पहले, जो कद दिया, उसे हमने ज्यो-ज्यो समय का जका धूमता गया, सब होते पाया । हमने ज्योतिष के पारंगत तुम्हें कभी नहीं सुना, फिर तुम, ये कथ्य ! भविष्य कैसे कह देते हो ? यदि ज्योतिषी नहीं हो, तो क्या तुम स्वयं ज्योति नहीं हो, जिससे दूर तक का अन्धकारमय जमाना कटक, वह सुदूर छुपी हुई अपने हृदय की घात घात देता है ?

अरे, पर तुम केवल भविष्य ही तो नहीं कहते । तुम मृतकाल की घातों को हमें समझाते हो, वर्तमान की जलमनों पर प्रकाश डालते हो और जनकी गाँवों का पता बताते हो, और भविष्य का चित्रण कर, हमें स्तरे की चेतावनी देते हो । तब क्या तुम न केवल ज्योतिषी हो, न केवल ज्योति तुम क्या समय के स्वामी, समय के सर्पेश्वर हो ?

यह तुम्हारी ही बाणी में निरुपकोल उठ्य, क्या तुम वह कलश-मुहार हो, जो बुलियों, पराजितों, पराधीनों और पतितों को जोर से पुकार रही है ? यह क्या सारी जलमनें जमाने पर, तुम्हारी ही दिशा में चलने लगीं ? क्या तुम वह मुखा हो, जो सारा जमाने का जमाना जिसने उठ पड़ती है ? तुम कैसी पुकार, कैसी कलश-मुहार, कैसी पीर-भवि हो, जिसे हम दिल्ली के शाही महलों में, और हिमालय, बिम्बाकल, अरावली और नीलगिरी के शिलतों और जनकी दरियों में अकसौं सुनते हैं और सुनते हैं तुम्हारी शीतल धूम को बांगसीक्यांग, गंगा, यूफ्रेटिस, नील, टेम्स और मिससिप्पी की तरल

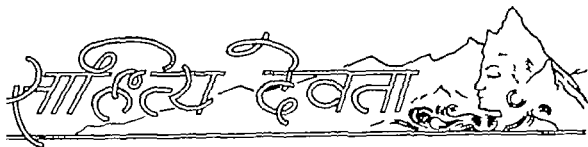


पर बलशालिनी लहरों में भी। सुनते हैं मन्दिरों, मस्जिदों, गुरद्वारों, गिरजाओं आदि समस्त देवालयों और विद्वत् की उलम्बन के साधन पाठशालाओं और जन-स्थलों में भी। क्या यह तुम्हारी ही बाणी है, जो कलकत्ता में हमें Inferiority Complex से दबाती है और प्रार्थना में बिलीन हो जाती है; उस प्रार्थना में जो हमें यह पुनीती देती है जिसमें आशा का ईश्वरीय सम्प्रेष अभिहित होता है।

क्या तुम दुःखी हो? यदि नहीं तो तुम्हारी जीतों में किस वेदना के भाँसु हैं, और तुम्हारे मुँह पर कौन-सी उदासीनता? उस समय जब सूरज तुम्हारी बाणी को अपनी किरणों में गूँस कर, विश्व का तुम्हारे अपनेपन में महला रहा है, तब शाही महलों की और शाही महलों की हवा से भनकनेवाली बिजली की पट्टियों तुम्हारी जीतों को चौंभियाने, तुम्हारी बाणी और तुम्हारे अस्तित्व के आसपास Electric-Wire fence बिजली के तारों की पागड़ खेंचने और तुम्हारी प्रभावित आत्माओं का बिजली के फँसी के सम्मों से विपन्न दमे का प्रयत्न क्यों कर रही है? सहस्र-किरण के साथ, बिजली की किरणों का यह संघाम। और इतने कष्टों में भी, तुम्हारा यह मुच्छास्य—यह बिना दाँतों के मुँह से रिलसितिया पड़ना। क्या उस वेदना में, तुम्हारी निम्न रिक्वाइट का लज्जाना भी छिपा हुआ है?

क्या तुम बेचैन हो क्योंकि तुम मरा पतन नहीं दरा सकते? क्या तुम पंचेनी का पाम्क इतलिय सँभाल रहे हो, मुँकि तुम मुझे अपना मानते हो? क्या मरे प्रति रहने-गल प्रेम ही ने, तुम्हें कष्टों का परदान दिया है। पर तिर तुम्हारी यह लज्जकर कैसी? मैं तो प्रेम में पुञ्जर और आत्म-समपण का आदी हो गया हूँ, मैं तुम्हारे प्रेम की लसकर का अर्भ कने जाऊँ।

साहित्य-देवता



सन्देश-वाहक

तुम कौन हो ?

क्या तुम ज्योतिषी हो ? तुमने आनेवाले जमाने के बहुत पहले, जो कुछ दिया, उसे हमने ज्यो-ज्यो समय का जका घूमता गया, सच होते पाया। हमने ज्योतिष के पारंगत तुम्हें कभी नहीं सुना, फिर तुम, ऐ पत्थर ! मविष्य कैसे कह देते हो ? यदि ज्योतिषी नहीं हो, तो क्या तुम स्वयं ज्योति नहीं हो, जिससे दूर तक का अन्वेषणमय ज्ञानाभा फटकर, वह सुदूर छुपी हुई अपने हृदय की बात बता देता है ?

अरे, पर तुम केवल मविष्य ही तो नहीं कहते। तुम मृतकाल की बातों को हमें समझाते हो, वर्तमान की उलझनों पर प्रकाश डालते हो और उगरी गोंदी का पला बतलते हो, और मविष्य का चिन्त्य कर, हमें सतरे की केतावनी देते हो। तब क्या तुम न केवल ज्योतिषी हो, न केवल ज्योति तुम क्या समय के स्वामी, समय के सर्वस्व हो ?

यह तुम्हारी ही बाण्णी में विस्मय बोल उठ्य, क्या तुम यह करुण-पुकार हो, जो दुस्मिनों, पराजितों, पराधीनों और पतितों को और से पुकार रही है ? यह क्या घायली कलमें जगत्तर पर, तुम्हारी ही दिशा में जलमे लगी ? क्या तुम यह मुजा हो, जो सारा जमाने का ज्ञानाभा झिलने उठ पड़ती है ? तुम कैसी पुकार, कैसी करुण-पुकार, कैसी पीर-भानि हो, जिसे हम दिव्यी के शाही महलों में, और हिमालय, विम्भाजल, अरावली और नीलगिरी के शिखरों और उनकी दरियों में बहतीं सुगते हैं और सुनते हैं तुम्हारी शीतल धूम का वांगसीर्वांग, गंगा, सूक्ष्मिदिस, नील, टेम्स और मिससिप्सिपी की तरफ

साहित्य-देवता

पर कलशासिनी लहरों में भी। सुनते हैं मन्दिरो, मस्जिदों, गुरद्वारों, गिरजाओं आदि समस्त देवालियों और विरम की उलम्बन के साधन पाठारों और जन-स्थलों में भी। क्या यह तुम्हारी ही बाणी है, जो कलकत्ता में हमें Inferontiy Complex से बचाती है और प्रार्थना में विलीन हो जाती है, उस प्रार्थना में जो हमें यह पुनोत्ती देती है जिसने आशा का ईश्वरीय सन्देश प्रकृत होता है।

क्या तुम दुःखी हो? यदि नहीं तो तुम्हारी आँसुओं में किस वेदना के आँसु हैं, और तुम्हारे मुँह पर कौन-सी उदासीनता? उस समय जब सूरज तुम्हारी बाणी को अपनी किरणों में गूँथ कर, बिह्व को तुम्हारे अपनेपन में नहला रहा है, तप शाही महलों की और शाही महलों की हवा से चमकनेवाली बिजली की पत्तियों तुम्हारी आँसुओं को चौभियाने, तुम्हारी बाणी और तुम्हारे अस्तित्व के आसपास Electro-Wire fence बिजली के तारों की पागड़ खूँचने और तुम्हारी प्रमादित आत्माओं का बिजली के फ़ौसी के लम्बों से विपन्न देने का प्रयत्न क्यों कर रही हँ? सहस्र-किरणों के साथ, बिजली की किरणों का यह संगम। और इतने कष्टों में भी, तुम्हारा यह मुकद्दास्य—यह बिना दाँतों के मुँह से तिलरिलसा पढ़ना। क्या उस वेदना में, तुम्हारी तिमिरिलाहट का लुञ्जना भी क्या हुआ है?

क्या तुम बेचैन हो क्योंकि तुम मेरा पतन नहीं दरा सकते? क्या तुम यथेनी का योग्य इस्लाम संभाल रहे हो, और कि तुम मुझे अपना मानते हो? क्या मेरे प्रति रहनेवाला प्रेम ही ने, तुम्हें कष्टों का परदान दिया है। पर फिर तुम्हारी यह ललाक्षर किनी? मैं ता प्रेम में पुनश्चर और आत्म-समर्पण का आदी हो गया हूँ, मैं तुम्हारे प्रेम की सतकर का कर्ष केने जानूँ।

साहित्य-देवता

क्या तुम्हारी यह ललकार कोई सन्देह लेकर आई है ?—

“ तू अपना पस बदल !

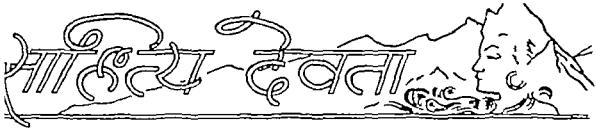
मैं तुम्हें, और तेरे इमाने की बदलने के लिए बाध्य करूँगा । ”

आह, तुम पर बरसनेवाले निम्दा के अंगारों और दौष-धातु के अन्तरतम छेद डालनेवाले प्रहारों के बीच भी युगों में अनन्त सन्देहवाहिनी वाणी की नहीं बदलते ?

प्रत्यक्ष के धिनीनेपन के प्रसूनों की, यह किस अप्रत्यक्ष चिन्तुओं में दीखनेवाले कुञ्ज-वन में छे चले ? पातक और प्रोही अन्तरतम की, तुम यह कौन-सी प्रतिज्ञा की याद दिलाते लगे ? जीवन की मूर्ता की कंकड़ियों की प्रेम के रस से भरे अंगूर कैसे बनाने लगे ? पतम के लिए प्रस्तुत पुष्प का, पवित्रता की सूची से छेदकर, यह कौन-सी माला बनाने लगे ? बाल्य की तबीअत में मनोबैगों के कणों की भिजाकर ठंडा कर देनेवाला कौन-सा पानी बहाने लगे ? राजमुकुटों को म्याम के खूँटों से इस तरह बाँधना, गरार इदम का बिम्बेवारी से मग्न बनाना, पापों की बाढ़ से परजापाप और आरम-सिपेदन के बल पर बचा खे जाना और अमिमान के गले में नम्रता की बनमाला पहिनाना—यह तुम अपनी वाणी के प्रमाण से कह रहे हो । कैसी अनोखी है तुम्हारी यह वाणी !

तुम्हारी वाणी ! यह बल्लरतमन्दों का विश्वास है, कष्टमोगियों का आराम, पीमारों की सेहत, गुलामों की आशादी ।

तुम न तो राबा हो, न राजकुमार हो, न परमाचार्य हो, न लेखक या मन्वकार, न तुम्हारे पास आइम्बर है, न तुम्हें बिबय के पदक और पद ही प्राप्त हैं, न तुमने सम्प्रदाय पला कर चले ही पनाने हैं,—किर मनुष्य,



केवल मनुष्य के नाते तुम्हारी बाणी में इतना घल क्यों है ?

यह बाणी जब गुनगुना उठती है तब विश्व बाधला होकर उसे इहराने लगता है, घेघेनी से मरी हाती है तब विश्व की 'पीर' बन जाती है, जब बहादुरी की आवाज बनती है तब भूमण्डल के देशों के मजदूरों घदल दती है और जब पञ्चान्त में—निकली हुई तलवार के म्यान में रखन की तरह पुन गुनगुना जाती है, तब परशापाय, प्रायश्चित्त और आराम-निषेदन में मरी होती है,—यह किमकी बाणी है ?

तुम्हारी भाग से विश्व उजाला है और तुम्हारे पानी से हम पर पानी, किन्तु तुम राजगारी तरबेचा या वेदान्ती नहीं हो। स्थिति, जल, नम, पाक, पत्रन मले ही विश्व बनाया करें, परन्तु तुम्हें इनमें सभी तक मतलब है जब तक वे मानव हृदय का उम्भल, उषत और सुनहला निर्माण करने के काम आ सकें। तुम कवि हो—विश्व हृदय के गायक। परन्तु तुम हो बिना इच्छा किये, बिना जाने कवि। तुम्हारे मन की पलकान् उभल-मुयल और तुम्हारे स्त्रियों का विश्व बनानेवाला फिअण् जब तुम्हारी बाणी या क्लमग के पाठ उतरने लगता है, तब मरुत बनकर सरस्वती का जयनी कवि स उड़ा त जानबाले, और रसों से विश्व का छकन बालनेवाल रससिद्ध कविन हाकर तुम्हारी आर देरतो और कड़ उठते हैं—

“ कविमन्त्रियो परम् स्वयम्भुः ।

तुम उपदेशक नहीं हो। न तुमने मन्दिर बनवाये, न कर्पाणें पढ़ीं, न कर्मछापण की क्रायद ही पर भ्रमण किया, पर जाननीं दुनियाँ ता दग्ध। तुम्हारी बाणी तुनी नहीं कि कर्पाणें पन्द हो गईं। स्मृति के बले र्भच गये,

साहित्य-देवता

और तुम्हारी एक-एक बात जीवन में उतारी जाने लगी। तुम राजा नहीं हो तुम्हारी बाणी धरतु बनकर, न लोगों पर राज चलाती, न लोगों के लिए कारागार बनाती, न लोगों को बर्बरता मानने के लिए बाध्य करती, इसके सिवा न तुम्हारे पास सेना है न लुहाना। तुम्हारे पास तो अपनी बाणी-मात्र है—फिर उस बाणी को माननेवालों की तादाद बढ़े-बढ़े अनेक राम्यों से भी अधिक क्यों है, और तुम्हारी आज्ञा से शूली पर चढ़ने और कारागार में जानेवालों का इतना बड़ा समूह क्यों? तुम सिपाही भी तो नहीं हो। न तो तुम्हारी लाठी बंदी है न उस पर कोई तमरो लगे है, न तुम्हारे पास मन्कू है न उसमें मरे जानेवाले करतूस, न तुमको 'हाल्ट' स लड़ा रहना सिलाया गया न क्लामद पर नाम-भूद मथाना, परन्तु सिपाही की तरह, अपने लक्ष्य पर प्राण देने की तुम्हारी मस्तानी तैयारी किमि सैमिक का गरबीला नहीं कर देती।

अहा! राजा, सैनिक उपदेशक तत्त्ववेत्ता कवि सिपाही—सब अपने नाम पर बोलते हैं। परन्तु तुम्हारी बाणी! तुम तो अपने शब्दा को प्रभु के नाम पर बोलते हो। वो बिलते ही, उसमें इल्लम के मुँह की कालिया पर भी—मगवान् क स्नेह का कम्भ—स्फुरण होता है। क्या तुम विद्वे के सौमाम्य-साभाम्य के मन्त्री नहीं हो! क्या तुम अन्तरतम क अनन्ता के सन्दरा वाहक 'जीवन-दूत' नहीं हो। क्या तुम पाप के कुम्भी-पाक में पहुँचकर, प्रभु की बाणी की चर्चा करनेवाले, राजवृत नहीं हो! वह राजा वो अपने से परे किसी की सचा नहीं मानता वह उपदेशक जो प्रभु के अस्तित्व के दुरे अर्थ कर अपना रोहगार चलाता है और वह तत्त्ववेत्ता, वो अपने अस्तित्व से भी प्रभु के अस्तित्व को कमजोर मानता है केने तेरी बाणी का स्वाद पा सके, तेरे मिटने का उम्माद पा सके।

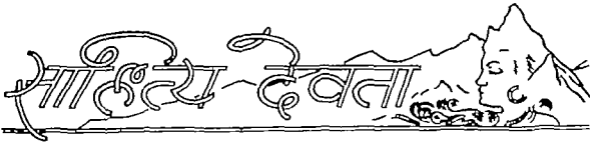
साहित्य-देवता

तुम ता वह हो—जा भौंम्-मरी भौंयो से भी, उस संकट को स्पष्ट देल
सकते हा, जा तुम्हारे जन और इमाने पर लूम रहा है ।

तुम उसकी इमान हो जो बोल नहीं सकता, उसके हाथ, जो लिख नहीं
सकता । उसकी बेतना जा असंगठित और तितर-बितर पड़ी है, उसके
पक्षील जा सब कुछ गये बुद्ध, उसके रक्षक जो पलवान् की कुचलम से
पचने के लिए छटपटा रहा है । तुम शिखरी के तीर के निराल पर मुग्ध
नहीं हाते, लक्ष्य के भेदित हान के पहल बनना हृदय लगाते हा । तुम मांटे
पेट, और अमीर्णबाल घनी क माथ नहीं घूमते, मूर स मरते हुए को, भूत
कर राटियों लिचानेवालो में तुम दीख पड़ते हा । इस्त्रतमन्ने पार दवे
हुओ में तुम्हारे दर्शन हाते हैं—उनमें इस्त्रतमन्द तारीब होता है, और
दबा हुआ लैगाहा—वहाँ तुम्हें मदद मिलने के बजाय, तुम्हारी सारी
सहायता और शक्ति की परीक्षा हाती है तब भी तुम उहाँ के माथ रहने हो ।
परन्तु तुम्हारी बाणी रुकनी नहीं, सुकनी नहीं, क्यों ! इमलिए कि तुम
प्रभु क सन्देशवाहक हा ।



साहित्य-देवता



धैरे-धैरे का पागलपन

(अ)

प्रेम, साहित्य के जगत में, रस की इदम का सू लेनेवाली मीठी किन्तु पुरुषार्थमयी सुखमलता का नाम है। जीवन की साधों के उदय और अस्त को नित्य की मधीनता की बोर में गूँबकर, स्तरे की गोद में निवास करने वाले अनहोनेपन के निकट पहुँचना और इस पहुँच का, सूर्य किरनों की तरह नित्य अस्त होकर भी, फिर-फिर कर नया चालपन पाना—वही सा 'इस जगत' के प्रेमी का प्रत्यक्ष प्रेम-स्वप्न ही जाना है। रामतीर्थ के शब्दों में 'प्रेमी यह जो प्रेम पर मरें', प्रेम यह जिसपर—जिसकी अपौरुषेय शक्ति पर, स्नाह की मोतप्रोतता पर और बलि की क्षितिज की सू लेनेवाली सामर्थ्य पर,—जगत मर-मर कर रह जाय। इदम के मर का आचार यही कहा जायगा। इसे कवि कहिए, पोया कहिए, योगी कहिए, बलि कहिए या इदम 'पाद' के युग में उसे इदम कहिए।

(आ)

प्रेम उसकी आगीर है, प्रेम पर उसी का एक क्षण अधिकार हो सकता है, जिसने अपने अन्तरतम की सामर्थ्य के बूते प्रेम की प्रत्येक गति-विधि—उसकी रूपायों की वासु, उसकी लहरियों, उसके मन्त्रों के परे तक पहुँचने के खेलों और उसका बलि-छोरुशों को अपनी उम्भल उदासीमता और वैदना मय मुसकान में बाँधने का अभ्यसन किया है। सली लगन और उम्भल समर्पण,—दोनों ही इस विजयी की प्रजा हैं। अनन्त प्रेम-क्रय अपन पास रहन, और चकचुबि के ध्याव की गति से अपन अन्तर के जगत और भास

साहित्य-देवता

पास के वातावरण में बढ़ने पर भी यह, उस कोप की कोई वस्तु हृदय का चोमक बनने, भार नयी वस्तु के लिए स्थान बनाने के हेतु पाठार में नहीं रहता। हृदय के अन्दर ही सौदागरो का टोटा कहीं? विन्ध्या के शिखर, मर्मदा की लहर, घेतका* का कलकल, मोर का गायन, मीन पर खुली डूब, हृदय में गड़नशाली आँवें, तथा शूली का लालप,—ये सब सौदागर बाहर छोड़ें वस्तु आने ही कब दते हैं ?

(१)

और उस आगीर के उपयोग में, प्रेमियों की 'उदार कंबूती' भी अभ्ययन और दुलार की वस्तु होती है। उस आगीर की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक बहक, माधो के भगवान पर चढ़ती रहती है। उदार वह इसलिए, क्योंकि दान क समय पास कुछ नहीं रता जाता, और कंबूती उसमें इसलिए, क्योंकि दश और कल करारे सामान करके भी उसकी लहर का कुपात्र पर नहीं परसा पाते। इसे तलवार की धार कहिए,—क्योंकि उरधान क अतिरक और पतन के प्रारम्भ के बीचोबीच की हलकी रेखा पर चढ़कर चलना होता है। बार और बितवार दानों ह हस्तों में एक ही; परन्तु विद्युत्, अन्तर की अनन्त निधियों का अगत से लूटकर मले लाया हो, अथवा अनिमित्त क सम्पुटा रण दगा। और दूसरा उसके सामने कभी नहीं रहता, जिस पर उमन अन्तरी लूट आक्रमारी है। इसीलिए बार पतित है, उसकी हति माह है, वह अपराध की पराजित प्रभा है, वह प्रेम-व्यय का कीर्ती है। बितवार अन्त मन्त्र शापो और परदानों को अपने आराध्य पर चढ़ा दता है। वह दौन काट गि

* लकड़गा बहाद में एक मरी ह जो पतन-मालामों क लीप्य ह मं नं ह बहती ह।—लेखक

साहित्य-देवता

भोर साधे पर निशाना अपने ही पर मेकता है। रूप, गुण, धन या प्रभाव किसी भी क्षमता पर उसे नहीं लरिदा या सकता। अपने बसाएब में वह सुरब है। अपनी सितारो की दुनिया कब वह भुबतारा है। अपने पाता कब जहाँ वह आतप है, वहाँ वह पावस भी है, बसन्त मो है।

(ई)

कवि प्रेम शब्द को मोह के जगत् से इतनी दूर लींचे ले पा रहे हैं, जहाँ तक बिकर नहीं पहुँच पायेंगे। तत्वज्ञान में असफल हाकर जहाँ बुधा नीचे रल दिया हागा, वही से सन्ने कवि ने उसे उठा लिया हागा। बदि मकि सधमुच कोरै—मी विवेकानन्द के शब्दों में—योग हो, तो उसे, माओं के इस दीवाने के द्वार मबदूरिन बनकर रहना पड़ेगा। और मुक्ति जेसी सुली हुई, स्वच्छन्द बस्तु को गरुड बनकर, अपने पंखों पर, इसी दीवाने दबता की प्राण प्रतिप्य करनी चाहिए। और बदि कोरै प्रमु रहता हो, तो इस अतिरेक के बीमार से दूर बह कहीं रहेगा ! किस भाशा से !

सो, बबार्म कवि के विग्दा रहते, प्रेम को बिकर के निकल ले जाना, जगत् की साम्य धरमा नहीं हो सकती। कवि के हाओं जान देकर ब्यभिचार न प्रेम को सर्षबा उड़ जाने के लिए छोड़ दिया। अब बह हाब जाने को नहीं। और बदि बह दोमो रूपों में है—प्रेम के रूप में और ब्यभिचार के भी—तो वहाँ विग्दा अथ्य कहीं !

(उ)

शब्द अक्षरों ही से बने हैं; वे चाहे वहाँ बसीटे जाते हैं—जा सकते हैं। परन्तु जब वे कवि के निष्कट हाते हैं तब वे अपने गौरव के पूर्वमार को अनुभव करते हैं; उनके कदम उठाने पर हर्ष में भी बयधनि होती है,

बैठे-बैठे का पागलपन ++

१४

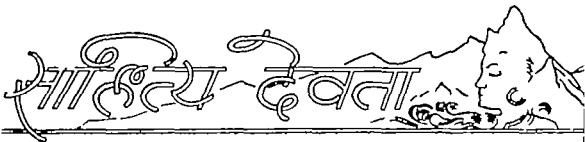
साहित्य-देवता

वेदना में भी मस्तक झुकते हैं। मुसकान वहाँ मीठी हाती है और वहाँ
उससे भी मठि हो जाते हैं।

(क)

प्रेम शब्द अथ युग परिवर्तन की घमुना की लहरों से मीगता वा रहा है
और मालिक विचारको की स्तूर्तिथी उसे दृ-दृकर, नक्षत्रों की उँचाइ से
लड़ाई टाननवाला बना रही है, अतः अथ वह मच्छड़ मर ताकाथो में भँसो
के साथ नहीं खोर सकेगा। वह दृष्य की सीमाओं की क्षमता पर भी पसुरी
की धुन में अथ 'कच' 'कृच' 'कटाच' गाता राड़ा न रह सकेगा। वह गीत
ही गायेगा किन्तु वे इमाने का माम्य लिलेंगे।





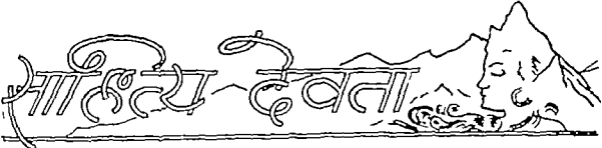
अश्वत्थधारी पुरुषार्थ

सत्ता विनोबा एक बार उन लोगों से माराज हो उठे, जो अपने साहित्य को छुपा कर रक्षते हैं। उन्होंने इस बात को अपने प्रयत्नों का खुद भोगमा पताया। मैं तो इस अश्वत्थ का अश्वत्थ ही माना हुआ। किन्तु एक उलझन भय भी मेरे मन में खूँ-खूँ-खूँ है—

जब हर बच्चा पैदा होने के पश्चात् आठ दिनों छुपाया जाता है। हर विचार, कल्पने की अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी या अमर बनाने की साध हो, तो क्यों न छुपाया जाय। विचारों के फलरू, कानों से रक्त पृथते हैं और अँतों से डाक्य बालते हैं। यह कर्मियों के बदनाम जेम के अगत की घात नहीं है। मेरा तो विचार है कि जो लोग बोलने का काम किया करते हैं, वे काम का बालना बहुत कम धोल पाते हैं। यह सच है कि विचारों पर आक्रमण करनेवाले जमा नहीं जानते और विचारों के हिमावती विचारों की रक्षा के लिए अपने हृदय को क्लिया तो क्या म्मापड़ी भी नहीं बना पाते। तब शरीरिय विचार-जननी का अपने नन्दगन्दन के गोपन और संगोपन की लुभरदारी रत्नी होती है। उन्हें हवा बचाकर महलाना और सुहलाना हाता है। विचारों का प्रजनन बे-इस्तिबार होता है, माना, किन्तु दा पाते बल्की है। एक तो विचारों का शरीर सुम्मा, सुभरा, सराक हो और दूसरे, मुग के हृदय में उन विचारों की बाधा पृट सके।

दुर्गा पूजा में मिट्टी के घटों की स्थापना का विधान है। हम इस समय सौंस लेते हुए मिट्टी के घटों की स्थापना क्यों न करें। और बाजारू तेल का मन्दादीक उनके मस्तक पर सुलगाने के बजाय क्यों न मस्तक में

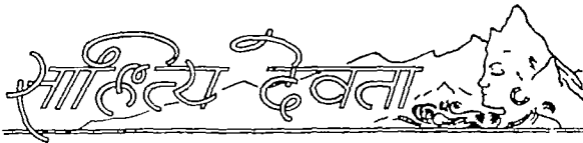
साहित्य-देवता



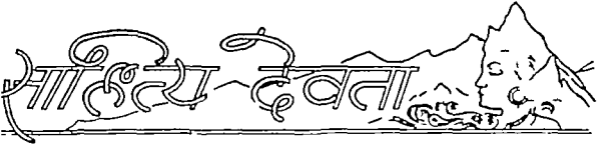
ही स्नेह-दीपि मुलगावें ! कहते हैं दुर्गा सिंह बाहिनी हैं । वे केमे शक्ति-पूजक हैं, जो अपनी दुर्गा को मूँसिह बाहिनी नहीं कहते । मरे विचार स तो साहित्य की दुर्गा बर्मान, भाङ्गियो, मदियो घराबरो, टीलो, टेकड़ियो, सेतो, लखिहानो यानी राष्ट्र का सिद्धान्त बनाती हैं, संस्कृति के गहने पहनती हैं; उमङ्ग-मुमल का राम-दण्ड धारण करती हैं और मुकुट को दुक्ता कर किसी जाति के संकल्लो का, गरीबो के घगीबो में उगे हुए पूलो का हार अपने ऊँचे स बाँधती हैं और समस्त राष्ट्र के निवासियो की आत्मा का बन्धन पहनकर विप्राशीलता का साम पीठ जाती हैं । यदि दुर्गा यह नहीं है तो फिर वह कौन है या दुर्गा है ! सम्प्रदाय के पन्दीछाने में बन्द करके हम अपने ही जैसी अपनी दुर्गा की कमहीन और कायर तलपीर क्यों बनाते हैं !

जब किसी एक देश का निवासी किसी दूसरे देश के निवासी से मिलता है तो वह औचित्य व्यक्तियों से बातचीत करता है; किन्तु वही व्यक्ति जब हमारी मातृभूमि में आता है तब हम प्राणों की पीकनी जलाम रखनेवाले लोगों से कुछ नहीं बोलता ! वह हमारे राष्ट्र के सख्तहटो से अन्यायपूर्ण करता है और हमारे कौशल पर मस्त होने के पचाय शताब्दियों के सड़े हुए भारत के भोजपत्रो और कागजो का पद-पद कर मस्तक डुलाता है । यही क्यों उन पत्थर की लकड़ियो और भांग-पत्रो पर लिखी हुईं पैकियो को वह मूर्खवान् राजाने की तरह अपने साम ले जाता है । उस समय वह हमसे भी एक काम लता है । भोजपत्रो और शिलाओ पर लिखे हुए हमारे भाग्य की प्रतियो का रत्न भार जहाजो में जड़ा देने के लिए वह हमसे बाम्बा डोनेवाल का काम लेता है । पूर्वो को वह बाम्बा हम पीठ पर लाद सकते हैं, मस्तक

साहित्य-देवता



पर नहीं। हम नाराज होते हैं कि हम सबीषों की मूल्य या परिणामी जग
 इसनी उपेक्षा करता है, किन्तु उपेक्षणीय हम, उपेक्षा से अधिक के जब
 हृदयार हो। नालम्दा और बेगाली, महाबोधि के तपोवृक्ष घनकर एशिया के
 अरमान और बगाल के संकेत-शास्त्र है। यदि हम अपने वीच से गांधी और
 रबीन्द्र उदकर एक तरफ रख दें तो हमारा मान्य किसी ब्रिटिश अदालत में
 लावारिस और दिवालिया होने की दरखास्त देता नजर आएगा। बगाल में
 अस्तित्वों की उपेक्षा नहीं होती। जब हम देखते हैं कि काशीप्रसाद
 वायसवाल के करणों में बैठकर परिषद के लोग हमारी संस्कृति और
 सम्बन्ध की भाक मामते हैं, तब कितनी बार हम अपनी जाति में, भारतीय
 जाति में अनेक भीषणशीप्रसादों का अपने हृदय के अन्दर आत्मदर्शन करते
 हैं? किन्तु हम किसी महान् वस्तु का आत्मदर्शन तो तब कर सके न, जब
 हमने अपने आत्मसंकीर्ण से अककरा मिले। वायसवाल भी अपने तप में
 मगसुबी हुए कि उन्होंने भारतीय जाति की राष्ट्रशक्ति, राष्ट्र-गौरव और
 राष्ट्रीय-आदर्श को लखनहरो के पत्थरों और छदियों के सड़े भाजपत्रों और
 कागजों में से सही-सधामत जीवित निकाला। किन्तु एक हम हैं, जिन्होंने
 वायसवाल भी और उनके से अन्य प्रमत्तशीलों के कष्ट-साध्य प्रबलों पर
 अपनी बे-मानकरी के लखनहरो लड़े कर दिने। महाएक पर शक्ति रलनेवाले
 सुबे की छिद्रणों की मर्यादा के लिलाफ हमारे कमर में प्रवेश नहीं कर सकतीं,
 यदि हमने द्वार बन्द कर रले हों। तब प्रतिभा की ऊँचाई और स्थैर्य के



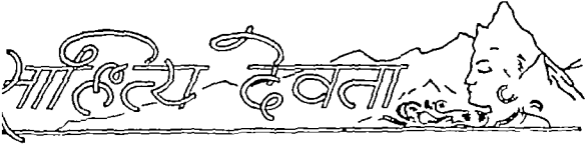
इतिहास का कुछ आलोक लेकर कुछ प्राणवान लोग आवे, तब हमने पन्ने पेशकर पुस्तक प्रकाशन करनेवालों से अधिक कदाचित उनका मूल्य नहीं कृता। वे राष्ट्रीयता के संकेत युग में इतिहास का सन्देश अपनी पीठ पर लाद कर आवे; किन्तु हमारी स्थितीनता के प्रहरी हमारे हृदय-द्वार पर लड़े हैं और वे हमें हास-विलास क दिमागी चक्रणों से बाहर आकर इतिहास के उन गर्मीर संकेतों को न हमारी आँसुओं पर षड्ने देते हैं, न हमारे हृदय में प्रवेश करने देते हैं, न हमारी कल्पन पर उतरने देते हैं। त्रि युग की वस्तुत के अनुसार हमारी जाति के जीवन पर उन संदेशों के उतरने की बात ही दूर है।

हम तो अपने देश के साहित्य और जीवन-निर्माता की बात को विचित्र तरह से भूल जाते हैं। किसी चिन्तक का हमारे बीच जाना अनिश्चय है। हमारे बीच चिन्तकों का जाना उसी तरह है जिस तरह गायक अपना गीत गाने और वह अपनी भुपद की तान जोर से रीष द और गीत के बीचों बीच ही उसकी वह तान उठर जाय, तो हममें से किसी के पास क्यउ नहीं कि गायक की आगे की छड़ियों अपनी स्वर-जहरी से गर्भपूर्ण सम्पूर्ण कर दे और अपने क्यउ की तरलाई पर राष्ट्र के मस्तक डुलवा ले। स्वामी राम जैसे सत्य और निद कवि का हमारे बीच जाना और जाना एक ऐसी ही बात है। हम उस सत्य गायक की स्वर-जहरी से राष्ट्र-भारती का अभि वेकन कर सके। प्रभो के बन्धनों के आदी हम, स्वामी राम क कथन में भी मुक्ति का गीत हैंदने के बजाय वेदान्त के पण्डन हैंदने लगे। तब राम की बौदुरी का स्वाद हमारी नसों में पनप ही देने सक्ता है। एक कड़ानी में राम ने कहा कि श्रेयण आम के म्हाइ पर पीते या नीम क

साहित्य-देवता

झाड़ पर झाड़ सूला हो या हरा हो, और फर्रेर अन्वड़ जाने पर झाड़ों के पत्ते चिनाड़े या झाड़ों की डालियों ऊँची-नीची हो, ये टूट मी मले ही जायें, किन्तु कोकिला का अभिमान कभी डार्वॉबोल नहीं होता। यह जानती है कि उसका अस्तित्व भीतर करनेवाले पत्तों की डार्वॉबोल होती हुई डालियों पर अवलम्बित नहीं है। दस टन की डालियों की अपेक्षा सबा तोले बजन के अपने पङ्क्तों पर उसकी शक्ति और स्वतन्त्रता का गर्भ अच्छा है। हमारे बीच कितनी साहित्य-कोकिलाएँ हैं, जो अपने हिलते-डुलते आभय-स्वामों से न पचड़ाकर, अपने पङ्क्तों से अनेक अन्वड़ों की पीरकर अपना पय बना लें और अपने बन्धन-देरा से मुक्ति-स्रोत तक अपने जाने की ऐसी लकी रेखा खींच दें, जिससे समस्त पङ्क्तवान तरुण्यार्थ मुक्ति-देश का पय पा लें।

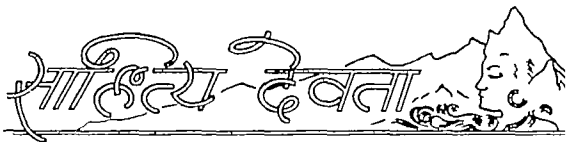
हम अपनी इस आदत को क्या करें? यदि किसी के दोष सुनता हूँ तो सुरस मान लेता हूँ और उस अद्रव्य को पेट में लेकर पित बाहर छाता हूँ और अपनी साहित्यिक पीढ़ी को उस निन्दा-निधि की खौरात घोंटता हूँ। संसार के दोषों का मैं बिना प्रमाथ सरल विरहासी होता हूँ, और यह चाहता हूँ कि मेरी ही तरह मेरा पठक भी मेरी लोक-निन्दा पर विश्वास करे। किन्तु यदि मैं किसी के गुण, किसी की मालिकता, किसी की उष्ता की चर्चा सुनता हूँ तब मैं उसके लिए प्रमाथ बमूल करने के इन्तहार लेना चाहता हूँ। जो कृपाकर अपनी एकल मेरसा को बाहन बनाकर अपने सम्पूर्ण स्वर्गों और इरादों को लेकर बैठ जाता है, जो सूरज और चाँद के प्रकाश के साथ होड़ा-हाड़ी करता है, जो अपने आदर्श या आराध्य की छान मिल जाने के लिए अपने प्रयत्न के टूटे स्वर्गों को थोड़ा करता है, वह निन्दा



के महायज्ञ में 'हाता' बनकर किये जाये ? उसके ज़गो को तो हवन-द्रव्य ही बनाया जा सकता है। यदि हम प्रेमबन्ध की की कृपा की माप नहीं कर पाते तो अपने आकलन के अपराध का दण्ड तो उन्हें दे ही सकते हैं। यही हमारा पितृ-नर्पण हो रहा है। और, नरुद-धर्म के उपासक हम, उसे जीते भी ही कर डालना चाहते हैं। जहाँ भी जैबाई को धूने के लिए अपने अम्तर की जैगुली नहीं पहुँच पाती हम रीक उठते हैं। आर, जैसे विन्दु को फोसने लगते हैं। उत्पान के अभाव और पतन की पराक्राधा से मरा जानेवाला मेरा मानसिक पेट अब स्वयं ही आत्मप्रकटीकरण की मूत्र अनुभव नहीं करता तब औरों की पेसी वेदमा की में किये कद्रु करूँ ? जिसका पिता रोप हो, जिसकी माता उद्वेगता हो, जिसकी पहलु अनिचारपूर्ण आत्म भ्रमा हो, जिसका भाई परिधान की गम्भीरता का अज्ञान हो, वह और चाहे जो कुछ हो, साहित्य तो नहीं हो सकता।

मतभेद तो रहने स्वामाधिक हैं। पाषों के विष-विष होने से अब गीत में निवृत्त आता है, बुरों और पुण्यों की विभिन्नता में अब माता गवीला मन्नर आता है और संसार के सातों रत्न मिलकर अब एक उम्भकन रत्न बना दते हैं तब कबन कहता है कि विभिन्नता में एकता स्थापित नहीं की जा सकती ? मतभेद प्यारी वस्तु है। निया-हीन समर्थन की अवेद्या ईमानदार मतभेद अधिक मूल्यवान है। किन्तु यह हो मतभेद। बदला न हो। और न यह मानना हो, कि अप में पीछे पड़ गया हूँ इस नन्दन को सा स्मरण ही पनाकर छोड़ूँगा। अब एक ही मनुष्य के जीवन में अनेक मत बदलते हैं और अपना मया मत बनने के समय अपने पुराने मत ररानेवाला अस्तित्व को अब वह स्वयं कोई दण्ड नहीं दता तब हम अम्यों के मतभेद से बचो ऊप

साहित्य-देवता



उठे। यह सम्भव है कि जो विचार आज हमारे हों कुछ समय बाद हमसे मतभेद रखनेवाले के हों; और जो विचार आज उसके हैं वे किसी दिन हमारे हो जायें। किन्तु यह चर्चा विचारों की है। पूँजा और विचारों के लिए नहीं। अस्तु। मैं तो कोमल और ललित साहित्य के समस्त प्रहारक मित्रों से कहता हूँ—

“पञ्चरी लये मुलाब की—

परि हूँ गात खरौंठ।”

हम एक बात तो स्मरस्य रहते। प्रन्वों के नियमों का नियमन अर्चियों के ध्वजहारों से होता आया है। स्वयं प्रबों में आराध्य, आदर्श या प्रभु स्तुति नहीं बैठता। जिन दिनों तलखार्ई लोहलखण्डों को तोड़कर मुक्त होने के लिए छटपटा रही हो, उन दिनों हम ध्याकरस्य और पित्रल के नियमों के टूट पड़ने पर शोक प्रस्ताव पास न करें। यदि हम अपने और अपने से पहले के बनाने के पतन की ईमानदार कैफियत देने के यत्न नहीं हैं, तो मल्लानी तलखार्ई के आगे बढ़ते हुए पैरों की स्फुटियों और परम्पराओं से बाँपने का हमारा उद्योग हमारे ही सीमान्त के खिलाफ हमारा बिद्रोह कहा जायगा। जिन दिनों हम कीर्ति और धन की दृष्टानदारी लोलकर समस्त साहित्यिकता को अपने पैर में ठीक बैठनेवाले जूते की तरह बना बाँधना चाहते हों, उन दिनों तो सूर के से स्वाद की, तुलसी की सी तपत्या की, मीरा के से उन्माद की, मृगस्य की सी निर्भीकता की, हमारी हिमावत ईमानदार हिमावत नहीं कही जा सकती। हमने जो कुछ अपनी हति से निर्माण किया, वह देश की पराधीनता और साहित्य के दिवालिवेपन के

साहित्य-देवता

रूप में हमारे सामने है। यदि हम पतम के खिलाफ बिद्रोह न कर सकें तो हमें आज अपने खिलाफ बिद्रोह स्वीकृत करना चाहिए।

फ्रेंच और जर्मन, रूसी और ईंगलिश—इनके साहित्यों का आदान प्रदान है। भाईचारे के मंत्र की तरह एक माया दूसरी माया से यदि कुछ लती है तो कुछ देती है। किन्तु हमारे साहित्य में तो हम निरतमगो की तरह लते ही लते हैं। देने का हमारे पास क्या है? जब हम अपने देश ही की मायाओं से आदान प्रदान का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते तब परिचय की उन्नत मायाओं से तो भाईचारा क्या स्थापित करेंगे?

शक्ति ही लड़ाई विड़नेवाली है। कुछ लोग शक्ति का निरुत्प्रेय प्रयत्न-वाचन कर रहे हैं; और कुछ लोगों को सङ्कट यहाँ मालूम होता है, चाहे घटना दुनियाँ के किसी भी हिस्से में पड़े। मैं तो इसे साहित्यिक मासिकता कहता हूँ। मैं तो सपना देखता हूँ कि अँगरेजी अलुबारी के तार, समाचारों की जूतन और उनकी विशेष बातों की अपनी माया में की हुई केहूदा मऊने अब हमें सम्योप न दे सके; और हमारे तरुण लड़ाई के मेदानों में पहुँचने की कोशिश करें। मुझे तो एक किमारील तरुण का मुझसे भी और दुनियाँ के घटनास्थलों में जाकर अपनी माया के पत्रों में सम्प्रेष भेजना और वहाँ की परिस्थितियों पर प्रथम लिखना सङ्पूर्ण साहित्य-सम्मेलन के एक अधिवेशन का अधिक महत्त्व का मालूम होता है। मुद्रोत्रों में हम गूँगी मङ्गो की तरह चाह से मा बचाह से बट जाते हैं। किन्तु हमारी कद्दानी कहनेवाला कह नहीं जाता। शासन की विपमता से भारतीय ज्ञान शत्रु नहीं बसकता। और शत्रु रसकर कह भारतीय, ज्ञान के पास नहीं जा सकता। मस्तक की भङ्ग और भङ्ग की मस्तक के साथ यह विपमता साहित्य के लिए

साहित्य-देवता

राहु और केतु हो रही है। यदि हमारे कर्मनाशील, किबारील, साहसी, साहित्यिक तरुण चाहे तो अपनी साहित्यिक तेजस्विता से सिर और पङ्क से लगे हुए एक सम्पूर्ण भारतीय मानव का निर्माण कर सकते हैं।

समुद्र से हम दूर भले रहें, किन्तु इस बात का ज्ञान तो हमें बख्तर है कि हमारे देश के तीन ओर समन्दर लहरें ले रहा है, उस पर नौकरों भी चल रही है, म्हापारी जहाज भी दाङ रहे हैं और जत्नी जहाज भी समन्दर की छाती छेद रहे हैं। अब हमारे साताओ की कल्पना ही पर यह परिस्थिति नहीं उतरती, तब लोगों की आँखों में दौड़ते हुए जहाजोंवाला समन्दर का मञ्जरा कैसे भूलेगा। और इस समस्या परिस्थिति पर अपना कष्ट करने की इच्छा कैसे आयत हो। लकड़ी की नाव पानी पर तैरती थी, और लोह के महल हवा में तैरने लगे। क्या हमारे पास ऐसा साहित्य है जो इन दो ब्रह्मानों की छीपी लड़ी रत्ना स्वीकृत जोड़ दे। स्वाद के अभाव में किसी पुरुषार्थमय मिठास पर हमारी तरुण्यार्थ ललचे कैसे, और वह लालच साहित्य की हलम पर कैसे उतरे—यदि हवाई जहाजों पर हमारी तरुण्यार्थ, न दौड़ कर बढ़ने में उत्साहशील हुईं हैं और न किसलकर गिर पड़ने पर पुरुषार्थ का स्वीकार मनाने योग्य हुईं हैं।

हम बड़े हो या छोटे हमने बर-बर और व्यक्ति-व्यक्ति में मरने का डर बोया है। हमारे लिए मार बालना ही गुनाह नहीं है मर जाना तक गुनाह हो गया है। धूरुप का खेतक मई से मई जाजू पर दीपक की तरह स्पष्ट और गणित के अंशों जैसे मुलके हुए विचार प्रकट करता है; किन्तु पुरुषार्थमय साहित्य और चर्चा का बोध हमसे नहीं संमलता। हमें राटियों चाहिए, राष्ट्र नहीं चाहिए। यही तो कारण है जो हम कमी-कमी काह फिरोते हैं कि

साहित्य-देवता

साहित्य चाहिए, राजनीति नहीं चाहिए। आज के साहित्यिक चिन्तन पर बिम्बेवारी है कि यह पुरुषार्थ का दानों हाथों में लेकर जीने का लक्ष्य और मरन का स्वाद अपनी पीढ़ी में पाने। यह पुरुषार्थ शत्रुधारी से नहीं हो सकता। यह तो कर्म के अनियों के ही करने का कर्म है। वे ही इसे करें।



साहित्य-देवता

ओगी

(१)

कुछ दिन हुए, एक कहानी सुनी थी। प्रवरिस के फिस्ती कवि के दिमाग की उपज थी। वह तिथि, उस किताब का नाम, उस कवि का नाम, और स्मृति के दीवालखोरेपन से उसके मुनावेवाले की सूरत, सब कुछ, भरे मन से उतर गई—मानो बीते समय के म खीटने का समर्पन करती हो। वे दो पंक्तिमें भी मिट गई—सूरज की करारी किरणों के पड़ने के बाद, पर्वी हुई अमृत बिन्दुओं के निशान कैसे हैं ?

(२)

एक बांगी का, रंगीन-सा। मुल, चैन आचार, विचार, उठना, बैठना,—सब आदमजात बेसा। औसत आदमी; पतन उसके साथ खेलता-सा,—उत्थान सूरज की किरणों बेसा दूर दिखाई देता। मानो उसका जोग उसकी 'समझ' में था। राज का देन, राज का देवता, और समाज का भागव, सीनो, उसका समर्पन म करते। करते भी कैसे ?—इतिहास, कुछ कल होनेवाली घटना को भाव करने ही म लगेगा कोई। वह तो हां चुकने वाली घटनाओं का हमली के बीचों बेसा गिना हुआ हिसाब है। तब फिर, जोगी के जोग का कोई दूरबीन स भी कैसे देल पाता ?

(३)

गोड़ों और मीसों की नगरी-जगरी में एक बड़ा-सा परवर ही 'बड़ा दर्ब' कहा जाता है। सिद्ध के रंग से रंगीला—और भारिबिल जगों का माफ़। क्लिने पर्युओं का बप इस देवता के नाम पर नहीं होता। मर्पे को वा महाप्रसाद पाहिए। रंग देलते ही रफ-तर्पण सुम्नता।



बागी बरदान देता। लोग जब बोल उठते।

(४)

जोग परि-परी बड़ा-सा ध्यापार बन गया। जीवन की अस्थिर सहरो के नाम हृदयियों लिली जाने लगी। 'जा, तू गोरा हो जा', 'जा, तू बड़ा हा जा', 'जा, तू विजयी हो जा', 'जा, तू अमर हो जा'। लोग दंग थे—'यह अपने भाप मीठी पीठ है—इसमें बाहर से शरकर नहीं मिलानी पड़ती।'—'इस मिटास से बापू में दुर्गन्ध नहीं आती'। 'इस मिटास में कीड़ नहीं पड़ते—यहें हुए मिट जाते हैं। इस तरह मितने मुस, उतनी पाते। जोगी पूसा,—सगातार हृदयियों लिमन लगा। वह गढ़े में बैठा था,—गंगा के उस तट क्य वह केने दल पाता। अपनी 'परिमितता' क्य उसे इतना उम्माद कि उस 'तीन लोक' समझता। मला ऐसा 'बद्याएदो क्य नायक' क्या जान कि दुनियाँ उसकी सीमा के भी परे है, और उसकी हृदयों स भी अधिक घनी है।

(५)

एक बहन आई, एक दिन। इसके पहले और बहनें आ चुकी थी। बागी की रोहरत थी, कि उसके आँसुओं क सर पर टपक सने के बाद,—मिठी रानसाल कपो की माताओं के घन पिठी नहीं रगते। इस बहन में भी प्रार्थना थी—'बाबा, मेरा न-हा मिठी ग्याता है, बरा इसे परब दा।' मिठी क्य पुतला मिठी राने से रोबेना।—बागी सहमा। हुएही लिल हूँ।—उसने कहा,—'माह तरसो आह्यो।'।

भटे की मों उठी और जंगार बरसती दापहरी में बन्नी गइ, कोमती। असीसती। कौन जाने।

साहित्य-देवता

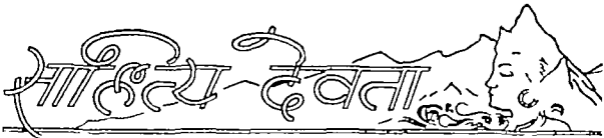
(५)

इस 'परब' का रंग ग उतरने देनेवाल, एक मनुष्य ने कहा,—बह मी ब-रैंगान बा।—उसकी तसबीर कलम ने नहीं, कुदरत ने लीकी थी। हों तो, उस मनुष्य ने कहा—बड़े निपुण हो बाबा। धरि-धरि तुम असीम होगे, पर दुष्टारा बड़प्पन उस असीम की मी सीमाएँ तोड़ने लगा है।

—“क्यों मैया !” जोगी ने बरकर पूछा। “अरे इस दोपहरी में, बरसते झंगारो में बहों क्रीन मरने आता ! पीस अरबे बाल रही है, सौंप मोर की पूँज में डुबकर बा रहा है, पीसा मारे प्यास के गाय के बछड़े के गले से बहता, पसीना घाट रहा है, और तुमने धरि से कह दिया—‘माई तरसो आइबा !’ बह कोमल पूछा ! क्या इस गर्मी में इसरी बार बाहर आकर !”
“पर, माता की ममता को, उगली कली के सुग के बेबम्भ में, क्यों बूँझता है रामू !—और फिर मैं बच्चे पर रहम कर्तूँ, यानी उसकी आँतों में अन्तक बनकर पीठनेवाली मिट्टी पर !”

—बागी ने, अपने बोम्बिले पतन को, इडता से, नाम-रोप उल्थान की याद में ठुक्राते हुए कहा।

समय बीतते ग बीतते तरसो आज हो गया। माई आ गई। बेटा गोद में बा। लास, मिट्टी की याद में बझार। डून नहीं, लिक्तीना नहीं, कुछ नहीं—मिट्टी, मिट्टी। जोगी ने अपने बिचारो का अँगन मझा बा—बरसो। अब तो एक दिन की साथ आज बर रोडगार बन गई की। उसने दाने-बाने के पार्यदो से, हाथ जोड़कर कहा—“रामू,—ओ रामू,—इस माई को तो आज मी लौटा दो माई ! मिट्टी मेरे बूते की हो ले, तप मैं इस माई की मनुहार के मोती से मी मिट्टी बुडवा बूँगा। हुएडी पर, पिना जमा



की पूँजी देते, कैसे हाम क्यूर ?"—भगतो की रूखी आँसुओं में पसीना भा गया। ठीक वैसे ही 'स-सोना' जैसा मुन्नाओं पर आता है। नमक के पानी में न जाने क्या क्या गल जाता है। हेवाम जोगी का निरूपण भी गल गया।

उसने माती के गधे में हाम बालकर कहा—'मिठी नहीं खाया करते राम !' बाल-मुलम छिलक में, मानों हुएड़ी सिंकारने का निरूपण दिया। गों पगली, हँसकर बल दी—“अब मेरा घेठा मिठी नहीं लायेगा।”

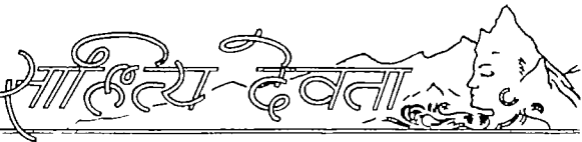
(७)

सुम्हारे स्थानी से कहियो,—मेरा घेठा माटी मोंगे है—रयाम् एक दिन लखर खेहर आमा। हिसाब मिलान में उलझे हुए परपर ने, दूसरे दिन देखा—मार्ई आ गई। बोली महाराम, “सन्ना सुम्हारो क्खनी नोंप माने।” उसने पर के दरबारो की तरफ देखा—पूल उड़ रही थी, और सब सोंस के साथ घेठ में आ रही थी। अपने पानी की सँभाला—कितनी मिठी बह रोझ पीता है। अपना सँभाला—मिठी की कंछरियों का हिसाब न था। उसे, अपनी नस-नस में माटी दील पड़ी। उसने देखा—बे-खना पानी, ये विना दाना और प्लि-प्लरित जगह ही उसके खाद के साथ न है। उसने मार्ई से कहा—“तेरा घेठ, मेरी हुएड़ी है मार्ई। जिस दिन बह माटी खाता है समझ कि मेरे भी घेठ में माटी है। कीच, कीच का क्या बायेगा !”—

दुखी मों बली गई। पटा याद में था।

(८)

“क्या हुआ होगा अब !” एक दिन रयाम् ने पूछा। जोगी ने कहा—मिठी खाकर तो मिठी खाना नहीं छुड़ाया आ सधता मार्ई ! कप्ये का बहों ल जाओ, जहाँ लाग मिठी न खाते हो।



न सधमेवात्वा सीदा

कोन ?

“ हम हैं। देश के सेवक, समाज के भंग और आपके मक। ”

तब इस दल-बल के साथ बढ़ाई क्यों की है ? और इतनी पुष्प-मालाएँ लेकर ?

“ हाँ, हम आपकी आराधना करने आये हैं। आप हमारा आत्म निवेदन सुनिए। ”

आप तो स्वयं जगदीश्वर के नाम से परिचित हैं। आज का प्रत्येक राष्ट्र-सेवी आपकी—जनता जगदीश्वर की—पूजा करता है। तब यह उलटी आराधना क्यों ?

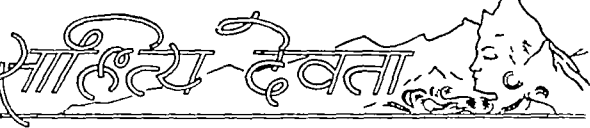
“ यह हमारी भीर-पूजा है। ”

परन्तु मैं तो अपनी ही पूजा को मस्तक झुंझता हूँ। आपकी पूजा स्वीकृत करने का मुझमें क्या बल है, क्या तप है।

“ हम तो देश में राम-राम्य खाने के लिए आपका जीवन प्रतिभ लिखना चाहते हैं। ”

तब तो पहले मुझे भद्रप सोझना चाहिए, फिर निर्वासित होना चाहिए, इसके परभाव अपनी जानकी के हरण को बरदारत करने के लिए तैयार होना चाहिए, और फिर आपकी एक शिक्षायत पर गर्भवती जानकी को सदा के लिए निर्वासित कर देना चाहिए। क्या यह सब कुछ आप चाहते हैं ?

“ हम तो आपका जीवन चाहते हैं। लिखने के लिए, पढ़ने के लिए और पत्र पर चलने के लिए। ”



आप वाल्मीकि का अभिनय पूरा कर सकने हों, पर मुझमें नट बन कर राम का अभिनय दिलान और पुत्र्यार्य का मझक उड़ाने का साहस नहीं।

“क्यों, क्या हमारी सेवा का कोई मूल्य नहीं है ?”

तुम्हारी सेवा का ? अपार मूल्य है। इतना मूल्य मैंने सार जीवन में पहले कभी नहीं देखा। परन्तु इस महंगी स्रष्टी पर भी मैं सौंद पर चढ़न योग्य नहीं।

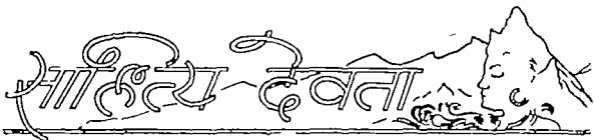
* * *

कलने शांत हो इस समय तुम, करोड़ों लहरों में बैठे हुए समुद्र का समान, किन्तु तुम्हारी शक्ति को मर्यादित करते कितनी देर लगती है ? तुम सागर हो। तुम्हारी लहरों के बीच अपने को लिम्बाड़ में डालने का—म हो, न हो वह सालाच।

हे अनन्त ! मुझ सान्त के साथ न खेल। समुद्र के गर्भ में भी जमीन है। तुम्हारी तरलाइ के नीचे भी कूता है। समुद्र की सतह मिलती है, तुम भी एक सन्देश के दीवाने हो उठने हो। समुद्र ही की तरह हृदय में उँचे हो, नीचे हो, पयरीले हो। स्थिर हो, कितारे न होकर भी ऊपर नहीं चढ़ते चयण हो, अस्थिर और नाशवान् लहरों में बैठे हुए।

जब तुम्हारी लहरों के सप तार मिले हुए हों, तब तुम संगति जैसे मोहक, मधुर, आकर्षक और प्राण-संपारक हो। उस समय किसी शरीर की 'पावर-आर' स लदी हुई 'तनिक-नी मैप्या' भी तुम्हारी गोद में टालबाड़ करती है। किन्तु, जब तुम्हारी लहरे एक-दूसरे से टकरा उठनी

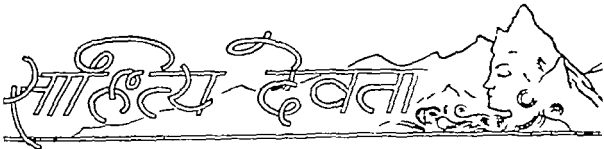
साहित्य-देवता



हो, जब तुम्हारी लहरों के तार वे-मेल हो गये हों, उस समय !—उस समय तरल तरङ्ग-मालाओं से बन कर भी तुम कर्कशा हो, फडोरा हो, प्रलयङ्करी हो । उस समय तुम्हारी अपनी ही एक प्पनि दूसरी से मेल नहीं लाती ।

गुमराह राहगीर ! क्या इ-ही तरङ्ग-मालाओं से खिलपाड़ करने का लालच है ! तो, ठुकरा कर इसकी बीषा के लहरीले तारों को न तोड़ । तार टूटते ही यह उच्छ्वित हो पड़ेगी । यह अपने पर होनेवाले प्रहारों का भीत्कार से बदला चुकपमे उठ बैठेगी । उस समय इसकी वह गर्भना किसी से न सही जायेगी ।





आश्रित्य

“मुझे क्यों हटाते हो ?”

मैं दानों पर एक छाप प्यार नहीं कर सज्जा ।

“बारी-बारी से सही ।”

यदि तेर पास आता हूँ तो उमक पाम नहीं आ सज्जा, वहाँ पहुँचन पर तारी आर आकर्षण नहीं होता ।

“मरे सौंदर्य को देखते हो, मेरी मर्मीनता का ।”

मिटास ही तेरा राख दे; जानता हूँ ।

“मैं साफ हूँ । स्पष्ट दीख पड़ती हूँ । प्रत्यक्ष फल देती हूँ । मेरी दया क बादल परस कर बिच का हरियाला करते हैं ।—‘बह सुँपला है, कज्या है ।’ श्याम कदकर ही ता तुम अपना सर पचाया करते हो ।”

हाँ, तू गिलास में मरा हुआ हलाहल है । स्पष्ट दीगनी है, प्रत्यक्ष फल देती है, जो तेरे हाथ पड़ा सा साफ है । बह महान् है गहरा है, और श्यामपन की तरह कज्या है । तेरे और मेरे पास उसकी उज्ज्वलता का दरने के लिए आँसू कड़ों हैं ।

“क्या इसका नाम अन्य-भदा नहीं है ?”

क्या तेरा नाम अन्य-अथदा नहीं है ?

“बहुपन उसी और क्यों है ?”

तू बिना बुलाये ही मन्दिर में प्रवेश करती है । आती है, मनुहार करती है । निपटणी है, बिपटनी है । और उनक पाप मुझे स्वयं जाना पड़ता

साहित्य-देवता

हे । यहाँ मेरी लक्ष्मी की गुलामी नहीं की जाती । उस द्वार का 'ठहरो'
मुझपर मुझे प्रतीक्षा की बड़ियों बितानी पड़ती है ।

“ और वे जब कह उठते हैं कि :—

‘कोई कितना खाये, सोसना हरमिन्न न कुश्मी को ।’ तो ? ”

तो ?—मेरा पचाव होता है ।—

‘जो आशिक है वो साहब धरकर दीवार खाता है ।’

“ तब हमारा क्या होगा ? ”—बह दिम्बिबयिभी बोली ।

मेरे पास क्या उचर बा ? सिवा इसके—

मेरे जीवन की छनइली याव क्लफर तुम मी बस पड़ो, उठी सबीने सँबले
रचामपन की ओर ।



आर्क्षित्य-देवता

असहाय श्यामघन !

मेरी श्यामलता का, मेरी उखड़क का, मेरे श्यामल-हृदन की तरलता का प्रत धारण करने रहनेवाली हिम-कैकरियों का, मेरे लिए तरसती हुई हृदयों की भाँती का, और मेरी याद में कुम्हलाते हुए हरिबालेपन का, ब्रिक करके, प्रमथन, तुम मुझे प्रम में मत डालो ।

जगत् की बोझिली और गन्दी वायु से परे, मेरे आसमान में ऊँचे पर विचरने, और नगाधिराजों के भ्रम और अचूने शिखरों से नित्य आर्क्षित्य करने पर, तुम बूझों के पचे लेकर, प्रियतम, तालियों मत बनाओ । देखो, मे पय मूल जाऊँगा ।

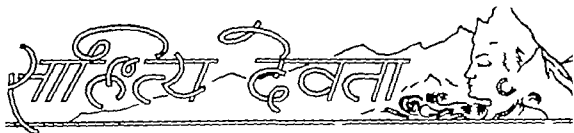
प्रिय, यह तो तुम हो, जो मुझे लिये-लिने न जाने कहाँ-कहाँ घूम रहे हो ।

प्राण, तुम छुपे रहकर, जगत् पर जीवन डलाने का सारा गौरव मुझे मले ही दे दो; किन्तु वे क्षोभ धोले में कैसे आर्यो, जो प्रतिक्षण अनुभव करते हैं कि जीवन वास की बोरी पर उहरा हुआ है ।

सहारे मेरे, मैं तो सदा ही तुम्हारी गति का गुलाम, तुम्हारी मर्जी का माहता हूँ । मैं तो मिटने की, मिट जाने की वस्तु हूँ,—अनित्य हूँ । नित्य तो तुम ही हो, अनित्य ! चाहे तुम मेरे साम खेला चाहे मुझे अपने साथ लिलाओ ।

कमी मेरा पर्दा बनाकर सूरज को ढँक दो, कमी मेरा भंडा बनाकर सूरज के रास्य को भीसुत कर दो, कमी मेरा नगारा बनाकर धीम्य को बुनीती

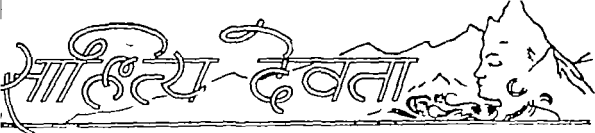
साहित्य-देवता



देने लगी, कभी मेरे धर्मेश की चिन्ता का प्रकटन कर, अन्धकार पर बार पर बार करी, और कभी मेरी सेना बनाकर तपन और जड़ता पर टूट पड़ी, परन्तु मैं यह कैसे मूर्ख कि मुझे तो, तुम्हारी, हों केवल तुम्हारी मर्जी पर खूब-खूद होकर गिर जाना है।

मेरी श्यामलता के लहरीले बाहन, मेरी तरलता के अदम्य आवाहन, मेरे जीवन के कथ-कथ को वहाँ जमेर दो, वहाँ तुम्हारी महर दो।





तुम जानेवाले हो

मेरा सारा पाता, बिना मौसम के ही फूल उठ्य,

—इसलिए कि तुम जानेवाले हो ।

और फूल भी नीले हैं, पीले हैं, लाल हैं, हरे हैं, बैंगनी हैं, नारंगी
भी हैं ।

मगर इन फूलों पर गुँजनेवाले परिन्द सब एक ही रंग के हैं, हृष्य,
श्याम, काले ।

इन गुँजनेवालों में से एक कहता है, आज उनके एक-एक अपराध उनके
सामने रख दो । बहुत सहा, अब न सहो ।

दूसरा कहता है—समय को भ्रम मत बनाओ । भ्रम को समय
बनाओ । प्राण दो, प्रणय दो ।

तीसरा कहता है—पुष्प में बन्द होकर, फिर निकल आना कैसा !
प्रणय का खेल खेलकर प्राण का मूल्य करना कैसा !

और, इन गुँजनेवालों को, मैं अपनी आशाओं का प्रतिनिधि कहकर,
इसकी कम्बलता में, कितनी उग्गसता का अनुभव करता हूँ ।

—इसलिए कि तुम जानेवाले हो ।

तुम जानेवाले हो इसलिए—मन का हर विघ्न, उसकी हर पैदना
आनन्द हो उठी है ।

तुम जानेवाले हो इसलिए—छली जर्मन अपने पर हरे चित्र,
हरियाली अपने पर लाल चित्र, फूलों की लाली अपने पर प्रमदों के
काले चित्र बना रही है ।

साहित्य-देवता



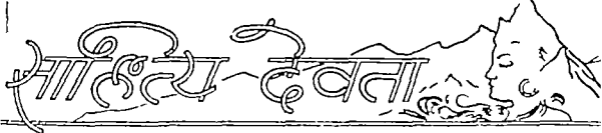
तुम आनेवाले हो इसलिए—छाले आसमान की जमीन पर, मटमैले बादल चित्र बना रहे हैं, और बादलों में चुनहली नागन बनकर विजली चिपकती हो उठती है।

तुम आनेवाले हो इसलिए—समन्दर के मोतियों के रसाद के लारे हो जाने की कल्पना कर, आसमान, ठंडे-मीठे मोती बरसा रहा है।

तुम आनेवाले हो इसलिए—सूरज की किरनों ने घर जगमगा दिया है, वायु ने ठंडक भर दी है।

और, अब तुम्हारा सन्देश आगवा; उसमें मुगों-मुगों का तुम्हारा बही वाक्य लिखा हुआ है—तुम आनेवाले हो।





मुरलीधर !

‘क्या तुम सन्नत हो !’

तुम मेरे सन्नत नहीं हो। आलापों की तरह तुम मेरी मर्जी पर लौटते कहीं हो ! माना कि तुम्हारी कृपा के बादल परस्मियार बरस पड़ते हैं; परन्तु उस समय तुम मेरी मलार नहीं बने होते।

—‘तब क्या तुम मेरी मुदत है !’

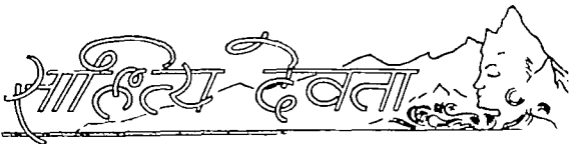
हाँ, तुम मेरे प्रहार सह लेते हो; किन्तु मेरे पन्थन में जकड़े जाने के लिए कब तैयार हाते हो ! मति बालते हो; परन्तु मुँह पर आटा लगाने की रिरिपेन उस मधुराई के बदले तुम्हें कब देनी होती है ! और ‘सब कुछ’ भरे, मैं तुम्हारी बाणी पर यह इलबाम कैसे रग सकता हूँ कि तुम बाहर वाला रहे हो; तुम अन्तःकरण रहित हो !

‘आह ! तब तुम बीया हो; नारद क माद मद्य से विरह भङ्गल कर देनेवाली !’

परन्तु बीया तो मेरी गोद में रहती है। तुम कहीं यह रातें स्वीकृत करते हो ! माना, भनकरते ही बीया स्वर देती है, मधुहारते ही तुम दीङ्ग आते हो; किन्तु मेरे स्वर पर सदा ही तो तुम्हारे तार नहीं मिलते। स्वर से स्वर न मिलने पर स्वर जहरी से विरह भर देनेवाली बीया को माद में लेकर, और हृदय से लगाकर भी, मुझे उसके कान में ठेके पड़ते हैं। पर, हाय ! तुम तो मेरे कर्मों को बीया बनाने के लिए घूमते हो।

—‘तब मधुर मुरली के सिवा तुम और क्या हो !’

साहित्य-देवता

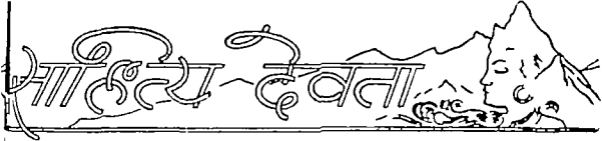


पर अपने ओंठ पर तुम्हारे मुँह को रलकर अपनी बेदगाओं और जझासों की गूँथ कहीं मचा सकता हूँ। और तुममें क्षिप्र ! और उन पर मैं अपनी उँगलियाँ रल सकता हूँ !

आह जाना, तुम न समीत हो, न मूदल हो, न बीया हो न मुरली हो,—

‘तुम तो मुरलीपर हो !’





गृह-कलह

“पे भायेगे मर्ही; किन्तु इती रास्ते स होकर पुडरेंगे।”—मुना कि विबली दौड़ गई।

इतनी-सी देर में अरमान क्ये निकलेंगे ? मुँह ने कहा, मुझे मस्तक सुझाकर यह कहने दो :

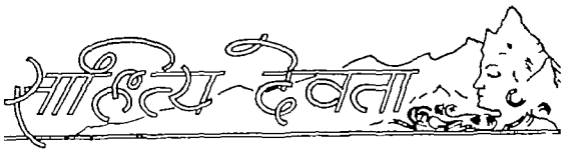
“हम तुम्हारे कहखाने का अमिदान करते हैं।”

बिस समय, बड़े दिनों, उहोंने इस ओर स गुजरने का अपराध किया, तब अपनी फुलभङ्गिचों छोड़ने के बचाम उन्हें कुछ कहने, कुछ पूछने, कुछ गुनगुनाने देना। भुति का पय तो छोड़ना मर्ही बाहिर ?—कानों ने कहा।

मेत्र स्तीक गये;—“अरे, जिम्हें देखने के लिए रातों का, जागकर, राति-अनु में मी छोला बना दिया और पुतलियों के कारागारों का पो-बोकर साफ रक्सा, जब उनके आने का समय हुआ तब हमें पद कर मस्तक सुझाने और अपना रामायण गाने बैठ गये। हमने अपनी अन्तर की काय कोठरी में उन्हें झेद कर लेने दो। बर्ही आजीवन अलस जगामे रहना।”

किन्तु हाय, मैं इस गृह-कलह ही में लगा रहा; पे भावे और पत्ने मी गय।





इसी पार

“ मे इस तरफ होता हूँ, तुम उस पार हो। जलो, लेलो। ” ये बोले।
ना, हरगिह नहीं—मेरा उछर बा।

“ तब तुम कैसे निर्मय हो ! ”

मे अपनी निर्मयता का तुम पर प्रदर्शन नहीं किया चाहता।

“ तब निर्मयता सूखी है। ”

पह सती है।

“ प्रमाण ! ”

इसका पिता रोप नहीं है, इसकी माता उद्वेगता नहीं है, इसकी पहन
अविचार-पूर्वक आत्मधरा नहीं है, इसका माई परिणाम की गंभीरता का
अज्ञान नहीं है।

“ तब फिर क्यों नहीं बहादुर की तरह उस ओर हाते ! ”

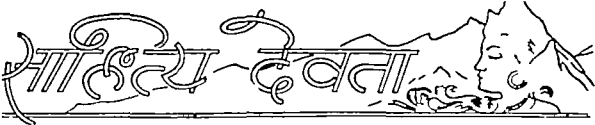
मरे झेदी, मे तुम्हें छोड़ना नहीं चाहता।

“ अरे, यह तो लिलवाइ है ! ”

तुम्हें तो बरदान और शाय, उत्पत्ति अंत प्रलय सनी लिलवाइ है।
किन्तु, मे तो एसा कोई लेल नहीं लेऊँगा जिसमे मे और तुम, दोनों, एक
ही पार न रह सकें।

* * *

मिने अपने सारे प्यासों का बचा-रुखा पानी भी चीँपा दिया है, इसलिए
कि हम दोनों इसी पार रहे।



मोहल

'भूयता' ! इस इलजाम का नाम मैं कहीं बिनाकर रखूँगा !

'तू मोहक माले हो; परन्तु जब तेरे स्वर ही मही है तब संगीत तेरे भाव पर के दिन रोपेगा ! मलार की तरलार्ई, भासापरी की मस्ती और मोरठ की वेदना क्या तेरे हवाल की आय !'

पर क्या ता है ! क्या मैं सुनने का भी मुरतहक नहीं हूँ !

किन्तु ये ही मुन सऊने हं जिनके मस्तक डोल सकें ।

तब क्या मेरे उपहारों का कोई उपयोग मही !

ये बोम्ब मात्र है । तू उनका बोम्ब ही खीच सऊना है ।'

मरे सला, क्या इनका कोई उपयोग नहीं !

ये संदेश-महल कर सऊते है । और यदि तू सँपारे तो—'

प्यारे, तुम्हारा कदम भर निरुप जाना चाहिए, मुझे उन्हें सँभार कर क्या करना है ! पर क्या मैं एक पात पूछूँ ?

'क्या !'

तुम्हारा नाम !

'भाहन'

क्या, तुम्हारे संदेश के पाद भी मेरा कण्ठ बेसा ही रह जायगा जिन पर तुम्हें शिक्षण हो ! क्या तुम्हारी माहनी यही आकर कुंडित हो जायगी !



साहित्य-देवता

तस्मात् मह्य मे जमः

मै—गुरुदेव, मेरा पहला पित्र बिगाड़ गया है। कितना निराल हो गया है ?

बे—पित्र !

मै—तोड़ डालता हूँ बूझरा बनाता हूँ।

बे—अरे, पहली आगारै कभी सीमावनाओं पर बैठकर नहीं आईं।

मै—परन्तु तसवीर में मेरी आत्मीयता जो है ?

बे—क्या तेरी आत्मीयता का दुनिया में उप-कल आया ही नहीं ? केवल प्रमात ही आया—बह लिल देना है ?

मै—मेरे लिए बूझरा चारा क्या है ? कौम-सी सेहत है ?

बे—चारा है कि १५ अभी सूते नहीं हैं आर कलम ह्याय में है। सेहत है कि क्याय अभी शेष है। लोग एक अन्तिम तसवीर बनाकर भी अमर हो सते हैं। तेरी तो अभी पुस्तिका लाली पड़ी है ?

मै—लाग जो हूँसेंगे ?

बे—पहले पित्र का देसकर तुम्हपर हूँसेंगे, दूसरे पित्रों को देसकर अपने आप पर। उस समय भूल का मूल्य पुस्तिका भी, अस्तित्व की अनन्त राशि तेरे पल्ले पड़ी रह जायगी।

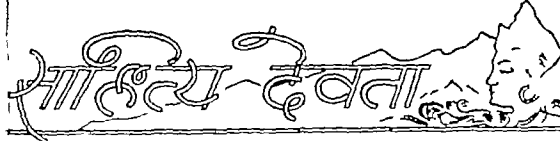
मै—मेरे मास्तर ! मेरी भूरीता के प्रदर्शन में तुम किस सुत का अनुभव करते हो ?

बे—मेरे जीवन के शेष, तुम्हें वरदान बनाकर रखना चाहता हूँ।

मै—बह क्या मेरा गंदा पित्र बिदा रखने से होगा ?

तस्मात् मह्य मे जमः ++

१२४



वे—अपने असफल प्रयत्नों को, असफल कष्ट, गन्दा न कष्ट । यदि दूसरा चित्र जीवन की कला का मन्दिर हागा तो पहले चित्र को उसकी सीढ़ी कूदलाने का गौरव प्राप्त हागा । लोगों के मस्तक रखने के लिए मन्दिर प्रदान करोगे परन्तु चरण रखकर वहाँ तक आने के लिए ।

मै—इस चित्र को नष्ट कर दूँगा ?

वे—तो तुम कला के हत्यारे के नाम से नक-नाम होंगे । और यह, तुममें निवास करनेवाले चित्रकार की पाल-हत्या होगी ।

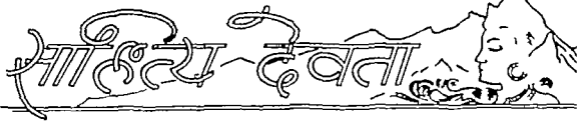
अब मैं चित्रवाले कपड़े पहनता हूँ । प्यामाप्पर विद्याता हूँ । पीताम्बर ओढ़ता हूँ । बहकनी हुई बिड़ियों, पूरे हुए शूलों, घोलते हुए भरतों की आराधना करता हूँ । खाने के पकवानों पर, पमाने के मृदंग पर और कान उमेठने की बीछा पर, मुझे मेरे आराध्य की तसवीर लिखी दी जाती है । दौड़ने, खेचने, रोने, गाने, मरने, मारने और मिटने-मिटाने के समस्त रोषों में, मेरे प्रिय ! एक मया चित्र बनकर, मेरी प्रणम के घाट उतरते, तुम्हीं दीख पड़ते हो ।

आह ! अब नीले रंग में चित्रित, हरी घास पर पड़ी हुई, पीन बजाती, टुपहारी मुक-हास्य-मयी रात्रत तसवीर को मैं मस्तक फुशाला हूँ, तब मेरा पल होता है कि मेरे मुँह से, 'तुम्हमेर समर्पितम्' निटने । टिप्पु न्यो ही मैं इस बात की चिन्ता करने में उलझता हूँ कि कहीं मेरे अमौ टपक कर टुपहार चित्रित नाखून की लाभिमा न घा डालें, खों ही मेरी अघान से वे-अल्पिण्यार निकल पड़ता है :

“तस्मात् मर्षा मे भवः ।”



साहित्य-देवता



बहू खासगी

बहू एक 'बायीं' है, जो लोक-जीवन के हृदय की सोच-सोचकर बिल्ला रही है और बिल्ला-बिल्लाकर सोच रही है। एक मुखा है, जो जनकी ओर से उठ रही है, बिनकी मुखासे उठ नहीं पाती, और उनका भाव्य लिए रही है, बिन्दे शासन ने लिखना-पढ़ना नहीं सीखने दिया।

एक बायीं है, जो ओपड़ियों की कराह की राजमहलों में ले जाकर टकराती है और राजमहलों के अपमानों की ओपड़ियों के सेवा-पथ में मिले प्रभु के प्रसाद की तरह प्रहण्य करती है।

एक बायीं है, जा गलियों में, कूपों में, ओपड़ियों में, महलों में, पहाड़ों में, घुफ़ाओं में, भीड़ों में, एकधर्मों में, बिन्दियों में, बिजय-पथ की पत्तानियों में, 'जले जलो' का स्वर लिये, परावर मुग़ाईं पढ़ती जली भा रही है।

एक बायीं है, कि समस्त धर्मों के देव-मन्दिरों में बिलसका एव गतिशील, बिलसका पत्र उन्मुक्त है—किन्तु कौपते सिद्धान्तों का आकम्पर है कि उस बायीं की वे न सुनें।

एक बायीं है, जो कि जहाँ तक भारत का नरमुँह है वहाँ तक, संदेय बाहिनी बनकर, बहू प्रणय है और जहाँ तक विरह-हृदय है, वहाँ तक विरह-विभु की प्रार्थना के गौरव से गीली और बोम्बीली है।

एक बायीं है, जो संकल्पों की प्रार्थना की कर्दियों बनाकर धोलती है और बिनाश की धमकियों में विभु की सुनहली आशा के दर्शन करती है। कलमा है कि जो लोकजीवन का दलित कल्पेया बन उठने की चाह बनकर लड़ा

साहित्य-देवता

है। मुँह है कि मुक-हास्य में चित्र-परिवर्तन के बाल महाप्रलय की बाणी बनकर आ रहे हैं। मुबार्य है कि कष्ट-भोगी के गल के हार हैं, अथवा शक्ति के निर्देश की ललकार हैं, अथवा दये हुए के लिए दंभित होने का दूना स्वीकार है।

बह लोक-जीवन के लिए प्रताड़ना सहता है। लोक-जीवन की भी प्रताड़ना सहता है, और उसका जीवन पतनान्मूल लोक-जीवन की रूपायत के लिए स्वयं प्रताड़ना बन जाता है; क्योंकि वह लोक-जीवन का प्यार करता है।

लोक-जीवन की बरी बनकर, उनकी भैरपी बनकर, उनकी सास बनकर, उनकी उसीस बनकर और उनका मस्तक बनकर स्थिर रहता है। संकट-ग्रह में, करारागर में और बच-ग्रह में वह मुक्ति की एक ही बाणी बालता है। रुद्धि के गुमराहों को वह प्रमु-पथ का पता देता है। दरा-भातकों और रिनास-भातकों में वह उनमें निवास करनेवाले प्रमु को ढूँढ़कर जगाता है। निदकों की सहिष्णुता उद्यमा है, क्रूरों की क्षेमलता जगाता है, भार पय-भंगों को वह अपने कलेजे पर मे पय-दाम करता है।

लोक-जीवन के भाव्य का भविय्य वह निरतना है। दिम्बु रिस्व की गुत्थिपों मुलम्बाकर तत्वज्ञ नहीं बनना चाहता।

बह कवि है। लोक-जीवन के औमुत्रों से गीला, लोक-जीवन की पाहों से दरदीला, और इस इका से दूर कि वह कवि हो, और इस पान का बिना जाने कि वह कवि है।

वह न मन्नाट है, न सरदार। न पर्माचार्य है, न प्यारस्था देनेवाला। वह एक बाणी है, जिके भाग विस्व साधर है कि उगे मुने। उसमें कगह

साहित्य-देवता

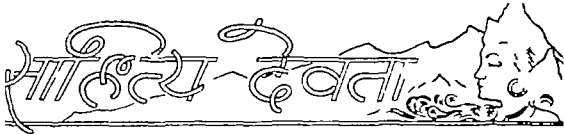
हे, जिसमें छोटि-छोटि दुसियों की आत्मा सिंसक रही है। उसमें गर्भन है, जो मोताओ की अकर्मदयता को लक्षित कर रहा है। उसमें विश्वास है, जो बलि-भक्तियों और कमठोरी स्वीकार करनेवालों का अपनी हृदय की परक-भक्त के बीच रक्षण कर रहा है।

वह वाणी है, जो रागात्ता नहीं है; किन्तु छटि-छोटि आदमी, छटि छोटि मामक, जिससे बँचे हुए है; अनन्त सेना नहीं है, किन्तु उसके एक विश्वास पर छटि-छोटि भक्ति उदरे हुए हैं।

वह वाणी है, जो दसक देने में अपने को भी क्षमा नहीं करती। जो बुराइयों का अपने सिर पर लेती है और अशुद्धियों को प्रभु के चरणों पर चढ़ाती जाती है।

वह वाणी हर देश में है हर जाति में है, हर धर्म में है। कमी आज़ा से और कमी अज्ञान से पोगम्बरो का अनुवाद करके वह वाणी अमरीका में स्पेलेट, ईंग्लैंड में पार्थिल, रूस में लेनिन, जर्मनी में हिटलर, इटली में मुसोलिमी टर्की में मुस्ताफा क़माल, चीन में म्पोंगछरई रोऊ, और विश्व में न जाने कहीं-कहीं क्या-क्या कही गई। किन्तु गुरुदेव रबींद्र की बोली में भारत की वह कविता, वह सूक्त वह साहित्य वह पुस्तक, उस वाणी के स्वप्नो का जागरण, सेवामाम की म्त्रोमन्त्री में निवास करता है। उषार लिखा हुआ वह मंदन में आप को सोमता है।





संवाददाता

मैं हूँ संवाददाता। संवाद देना मेरा काम है। दुनियाँ में जिसे भीतर धार गाली देकर मी, फिर-फिर देले बिना नहीं रहा जाय, उसे कहते हैं आउचार। दुनियाँ के ज्ञान में पहिले शोषक, फिर चिंतक, फिर खवि फिर खेतरक, फिर पत्रकार और फिर आता है संवाददाता। अपनी इस पल्लन के गुणों में एक-दूसरे से कोई मेल हो या नहीं, किन्तु संवाददाता क्या नहीं होता।

यह शोषक की तरह पले लगाता है, चिंतक की तरह पस्तु या घटना का ताल सँभालता है, खवि की तरह कल्पना की वायु-सरंगों पर स घटना के कण धीन-धीन कर रहता है, खेतरक की तरह चर्चा करता है, सत्यादक की तरह अपने जमाने की जनता की रूचि सँभारता है, और न जाने किस दिशा में, न जाने कस दूटकर, कमी परिस्थितियों में पड़कर, कमी उनसे झगड़कर, और कमी उनका निमाण्य कर, रचना में रत्न-निर्माण करता है, किन्तु स्वयं कन्द-मूल-फल पर सन्तुष्ट होता है।

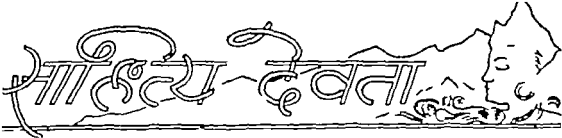
धर्मशास्त्रा में मेरी बरूरत हाती है, अनाथों के अङ्गों पर, विरर का साहित्य गढ़ा जाता है, रेलवे स्टेशन के तीसरे दर्जे के पैटिंग रूमों में जनता की वाचा पृथ्वी है, पेरवागारों में शरा और शास में लिपटा हुआ मानव सौंप अपना स्वप्न स्वल्प, रर और बहर प्ररुत करता है, परों मेरी बरूरत होती है। मेरे साहस में जगत् की बाह की अँगुली, मेरे भेष बदलने में जगत् का अनुभव, और उनके रहने और मृगे साने में विरर के कण भाग पड़ने का एक ह्रदम छुपा होता है। दो की कजा हूँमी में यदि मैं दूसरा हूँ

साहित्य-देवता

तो समाचार का स्त्री हैं और तीसरा है तो समाचार का मोहताब। किन्तु यदि चॉमा हैं तो फिर एक शताब्दी पीछे हैं। गङ्गा के घाटों पर माघ से लोग उतरे नहीं कि उन्होंने अपने पक्ष की कहानी कही, और मैं मानो जीने के लिए सौंस पा गया। जेल से मुकदमे पर अदाकार में जाते हुए बंदी या हथालाती से मैं मिल लिया कि बस कबली ऊँची दीवारों की कालिमा कौंप उठी। बुर के अड्डों पर मैंने गरल लगाया कि एक के इन्कार देखनेवालों की बूझार आया। गरब यह कि मैं हूँ संभाददाता। मुम्हसे मुकुट बरते हैं, सिंहासन हिलते हैं, और शस्त्रोपाले हाथ शस्त्रों की शपथ लाकर अपनी सफरई देने पड़ते हैं।

जनि में मन्दिर का घंटा बड़ता है, या आपस का टंटा, यह मैं ही जानता हूँ। मसजिद में, मसजिद का किस तरह फ़ार-श्वेत कर शय का बनाया जाता है, मुझे पता है। गिरजे में एक बधतिस्तर के नीचे जितना अन्धकार बिपा रहता है, यह मुम्हसे अपना हुलिया और अपनी सङ्गता कहता जाता है।





लहरें चीर : विजया मला

पराबेपन के इस बारापार में, क्या अपने अस्तित्व को बूबने से बचाये रहना, और भाराम्प—सट तक पहुँचाना है ? तो लाहे की दीवारें, सागर के तरल बहस्यल पर दीड़ाना, और पानी में भाग लगाना सीलिप । क्या अपने दुर्भाग्य को दो टुकड़े कर देना है ? तो उठिए, सागरों और महा सागरों का आमन्त्रण स्वीकृत कीजिए । दुर्भाग्य समुद्र की लहरों में आ छुपा है । लहरें कपटले बलिप, दुर्भाग्य, और बेदियाँ, दानों कृते चरेंगे ।

ध्यात्माम, लेल, और कविताओं से यह न हागा । मझाह चाहिए । यह अज्ञान न हा, लहरें उसे निगल जायेंगी; यह अल्हड़ न हो, लहरें उस लिलबाड़ बना लेंगी; यह कसा हुआ हा, ये उस पर कुरबान जायेंगी—नीचे रतनों से भरा समुद्र-गर्म और ऊपर नक्षत्रों तक का राम्य, ये अपने प्रियतम पर बार देंगी । लूबमूरत युवा, पतवार हाथ में ले । वही तेरी शोभा है ।

पटियाँ कड़े, उन्हें मझाह सेनानी पति चाहिए । घेठे कड़े, उन्हें जहाज के कम्पास पर बँड, दिशा-दर्शन करानेवाली श्राणों की यमाथ ईश्वरी चाहिए ।

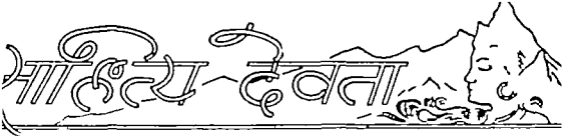
यदि दश के सीमोल्लंघन की यह सँवारी न हुन, ता बाये हुप भार उगकर बिमक्य मुँह दगेंगे, घट-स्पापना का घट बिसके बल रवों से मरे जाने की साध करेगा, और यह मन्दादीनक किस कृम-भूपण की भारती उतारेगा ।

भंग लगी हुन तपनार से नीपू कपट के, और उस पर मिन्दूर लगाने वाले कपूर, अस्तित्व के जहाज का कठिनाइयों के सागर की तरंगों पर तैरा

साहित्य-देवता

द, और मज्जाह बनने के लिए भागे वढ़ । माखण, तू समुद्र पूजन की पल,
एत्रिय तू लहरों की काटने उठ वेस्व तू समुद्र पार से लक्ष्मी का लौटा और
शूद्र तू अपने मल्लकर्म से, समस्त शरणागतों की रक्षा कर । लोभे हुए वे दिन
हूँद, जिस अश्विनीषी पीनी भी हूँद लामे, अमावसाह हूँद लामे और
कमालपाया हूँद लामे ।





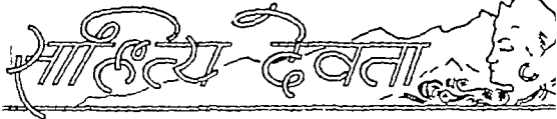
गिरिधर गीत है, मीरा मुरली है

कवि के घर निर्पनता से अकल नहीं पड़ता, वह ता पड़ता है, मीरसता का मौसम आ जाने पर। उस समय उसके विचार और भाव, बाणी के पाहन पर पीठकर विजय-यात्रा करते हिचकने लगते हैं। ज्ञान की परिमितता में माया का उपयोग, हृदय-रुमन होता है, और ज्ञान का बोध खदने पर, माया से हृदय खुलाने का चकला खुलनामा जाता है। किन्तु कवि के पास, माया, ज्ञान में और अज्ञान में, सदैव हृदय के ईमानदार प्रगटीकरण का साधन होती है। कविता को कुछ लोग, विलास या विनोद मानते हैं। जो लोग अपने प्राण-दान को भी विलास मानते हैं, उन मनस्वियों को तो कविता का भी विलास और विनोद मानने का अधिकार है। किन्तु बसार्थ कविता विलास नहीं, वह तो एक निर्माण है, महान् निर्माण है। हिमालय की तरह स्वामी, गंगा की तरह उपयोगी, सूर्यकिरणों की तरह आनन्दक, और वायु की तरह अनिर्धार्य। लोग कहते हैं, विज्ञान की पाद में, कविता का विनाश-काल आ रहा है। जो लोग, गुरु मिलाने के मूल पर उठाइते हुए आम की बालियों को कविता कहते और मानते हैं, उनकी कविता तो किन्ती ही बार पर उठी, आम भी वह कविता मरने ही के लिए है। किन्तु जो लोग कविता को समय के परत मानते हैं, उन्हें कविता के मरण की बात पर विश्वास कैसे हो? जब तक हृदय है, और उसमें सुक्रेमल मनोभावों का भागमन है, जब तक मनुष्य के हृदय पर, मनोभावों का असर होता रहता है, तब तक कविता अमर है। हाँ, खन्द न रहे। हम धर्मों के मानी ही श्लोक समझे, तो इसमें हमूँ हिमक्य। प्राणों की कविता का खन्द शरीर

साहित्य देवता

है, मनोमावों की कविता का छन्द इन्द्र है, श्रीलो की कविता का छन्द पुल्लियाँ हैं। बिभाता ने, अपनी प्रत्येक वस्तु, पदार्थ विशेष में झुपाकर रली है। छन्द के मानी ही, झुपाकर रलने के हैं। यह सत्य है कि काव्य के संकेतों और कला के उन्मेष में, अनुकूल्य मरख है। परन्तु, हम एक 'मीरा' और उसके 'गिरिधर' की नकल करने के बंधन से नहीं छूट सकते। मीरा है प्रकृति, गिरिधर है प्रभु। गिरिधर माव है, मीरा उसका छंद है। गिरिधर गीत है, मीरा मुरली है। कवि और कविता का यही तो सम्बन्ध हाता है। क्षत्रियों के प्रति बिद्रोह करनेवाले परशुराम को अपनी तपस्वा याद ही न रही उन्होंने क्षत्रियों का विशेष क्षत्रियों ही के उपकरण से कर किया इसीलिए उनका तेजस्विता ने हार खाई; और एक क्षत्रिय के हाथों उन्हें अपना राव-दंड सौंपना पड़ा। कवि और प्रभु के बीच तो और भी बड़ी टेढ़ है; हम तो प्रभु के खिलाफ बिद्रोह करते समय लाचार हैं कि प्रभु ही के उपकरणों से काम लें। हाँ, हम यह मले कहते बावें कि ये उपकरण 'प्रभु' नामक किसी 'बागधर' के नहीं, ये प्रकृति के उपकरण हैं, और प्रभु नाम की कोई वस्तु नहीं। ठीक है, पर नाम बदलने के मानी, किया बदलने के तो होते नहीं। मैं तो कविता की बात ही लिल रहा बा। हाँ, तो कविता में हम प्रभु और प्रकृति का अनुकूल्य करने को पाव है; क्योंकि उनके लिलपाव, कवि के शब्दों में, मनीन अपनी का उदक करते रहते हैं।





‘—के साथी से—’

मेरे स्वर में स्वर न मिलाओ गायक, मैं दर्शकों की बैठक में से
गुनगुना उठा हूँ ।

मुझ पर दर्शक हँस उठे हैं, निरुक्त के मुझमें दूर हा रहे हैं, दूर के मुझ
पर बैंगुली उठा रहे हैं,—देखो ये बैंगुलियाँ तुम पर नहीं उठी हैं—
न्हें तुम अपने पर न उठनाओ ।

म तो तुम्हारे साथ उठने आया था गायक, तुम मेरे स्वर के साथ किम
उतार की ओर चले ?

बिना तरह की की खाबिना और जीमि ख रोम नाम दोनों, एक-दूसरे
स दूर रह लेते हैं, गायक उतनी ही दूर मुझसे तुम्हें रहना होगा ।

बकरत नहीं कि हम एक-दूसरे का देखें, स्मरण की, पर्याप्त की खोरी
से, दो युग बुझ लेते हैं गायक, मीड के लिखाव में उतार स बढ़ाव बुझा
हुआ है । बरा ठहरो, तुम वह न गुनगुनाओ जो मेरा अपना है, भार का
झिरी के छठ पर बढ़कर न लहरा सद्य ।

स्टेशन के कुली न तुम्हारा सन्दूक तोड़ा, ता तुम पिट उठे थे, मैंने भी
ता गुनगुनाकर तुम्हारे गौरव की प्रतिमा मज की है ।

उसे तुमने पैसे देने से हमघर किया था, मुझे भी अपना स्वर देने से
हमघर करो गायक ।

रिस्ता है ?

सूरज में रिहते से अपना प्रच्छन्न मदी पड़ाया, वायु में रिहते से अपनी
पति न रोछी—रिस्ता ? यह किस माया का शब्द है गायक ?

साहित्य-देवता

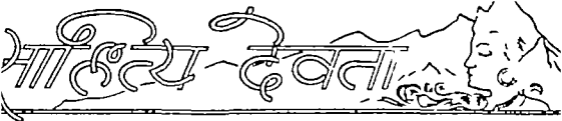
रिश्ता १—मानव के अघ-पतन में, समर्पक हूँ देने का प्रयत्न तो नहीं है यह !

रिश्ता—अपनों को संकट में डालने का मार्ग बन गया !

अब सेवा होगी या महत्ता-अज्ञा की पूर्ति ! निरव का हित होगा या अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न !

रिश्ता, गायक, समर्पण की आतियों न बनाओ, उतार को रूप-दान न दो, प्रत्यार्थ का हाट में न रलो !





‘दूरी की निकटता’

‘तू और ‘मैं’ क्यों न ?

“—नहीं ‘हम’ कहा ।”

क्यों ?

“—साथ घूमते ह, साथ श्रम करते ह, साथ लाहा लने हैं, साथ-साथ सिर देते हैं ।”

तप भी क्या हम साथ ह ? द्वार से द्वार भग्न मिता हा, जी-से-जी मिला है क्या ?

“—यह जी क्या है ?”

अमरत्व; श्रिममें मरण नहीं होता ? प्राण, जो काटे कटे न मिगये मिटे, न पगमे घटे,—

“—और उसका माप ?”

निकट आन पर बे-बहुषान की-सी दूरी रगडर और दूर रसरर, और दूर रहकर, प्रणय के आनिद्वन और आँसू समर्पित करके ही, गिर उठाने और सिर देनेगले सिरपारी आन पाये ह कि जी क्या है, प्राण कहाँ ह ?

“—दूरी में क्या ह ?”

देनत में तुम पर आँसुओं के फूल बढ़ाऊँ ? तुम्हारी याद पर बलि बलि जाऊँ, तुम्हें पान के लिए ध्यातुरा रहूँ ?

“—क्या यह ७त्रिमता नहीं है ?”

बिनी इत्रिमता ? दूर ह, तप तुम्हारे गुण सुनन-सुनते नहीं करुणा; दूर ह तप तुम्हारे गप-मान गाले नह। अरता; दूर ह तप तुम्हारी यादे परी

आहित्य-देवता

सोते बन जाती है, दूर हैं तब तुम्हारे ध्यान पर लटकते चरखों पर मल्ला रस्ते भी में उभेठन नहीं पड़ती दूर हैं तब मेरे घाता के झाड़ों की क्यारी के कीच को भी चन्दन बनाकर जहाँ लड़ा हैं वहीं तुम्हारे मसाल पर चन्दन-सा चढ़ाने लगता हैं और झोलों का अभ्यदान करता हैं किन्तु तुम अपमानित नहीं होते, दूर हैं तब, मरी, किसी भी रस की चढ़ई भी गुनगुनाइट, तुम्हारी प्रार्थना का सामगान बन जाती है; दूर हैं तब किया तुम्हारी सेवा और मेरी सेवा तुम्हारा मनोरंजन है; दूर हैं तब तुम्हारी हर कड़वी आशोपना, तुम्हें दी गई हर गाली तुम्हारा किया हुआ हर दुःख तुम पर किया हुआ हर अपराध और तुम्हें अपने से छोटा मानकर, तुम्हें अपने अन्तर में जगह देने का हर आवाजन—अपनी जीतुरी पर तुम्हें मृत्यु के लिए बिचरा करना, अपनी रीम में तुम्हें पुकार उठना, अपनी लीम में तुम्हें दुतकार उठना, और फिर अपने को कमी तुमसे बड़ा, कमी छोटा, पाता—यह मेरा सत्य है या मैं अनुभव कर पाता हैं; और दूर हैं तब 'मे' को 'तू' मानकर कौन-कौन लाइ नहीं लड़ाता, कौन कौन शिक्षायते नहीं करता ? कौन-कौन आरोप नहीं करता, कौन-कौन-से अपने अपराध गिन-गिनकर तुम्हारे सामने नहीं रस देता—क्योंकि उस समय तू ही जाता है मे; और मैं हो जाता हूँ अति नम्र आत्म-निवेदन ।



साहित्य-देवता

जीवन का प्रश्न-चिन्ह—श्री

(१)

भर और भर, भर और भर और भर तथा वस्तु, सब में एसा
 धन-सा नाम है जो ये, पूर्वी पर रहकर उपर का उठना नहीं जानते। किन्तु
 सुदूर-से-सुदूर उपर से असहाय, श्रेयस् भनिशर्ब, भवक, नीचे की ओर
 चले आते हैं। क्या इसे आर्पण करते हैं। सुग का जमक, पर्वण
 की मिठास, जन्म का संकेत, मरण की प्राप्ति और अमरता का चिर
 सन्देह।

बसो मही तुमने उलझन मालूम होती, आकर्षण। मिट्टी में मिला हुआ
 पन, मिट्टी में मिला हुआ प्राण, बड़ लो, आशय को जला। क्षीय और
 पत्कर में से सर उठावा हुआ ॥ परन्तु समय तो दयालु न्यायाधीश नहीं
 है। उसने नहीं-सी उगती हरियाली पर ये लो कौंटे उगा दिये।

हो सुग विगड़ कर चल आकर्षण से ॥ और सूरज दाम्य देन चौद
 स्वभाव देने, हवा प्राण देने और क्षीय की मृमि मीठा-सा स्वाद देन में जुट
 गये। तुम्हारे कौंटे अधिक है या समय के दिन अधिक; शाब्द, कौंटे मूरज
 की निहन्त को, क्षाल के अगदीबर का पराम्य क्रिये हुए हैं। ठीक है, तुम्हारी
 उम्र क दिनों से कौंटे का इस तरह बढ़ जाना उस कलाकर की तरह है
 जिसके उम्र के वर्षों से उसकी कला इतिषों अनन्त गुना होकर विष के
 सम्पुत भा जाया करती है।

कोमल हरीतिमा में और मगही उठान में ही ये कौंटे जनन व
 उपान। और यह सब निर्माण किसके लिए। कि एक डाली, चिर

साहित्य देवता

नये कौटो। किन्तु हरियाली झाड़ी लगी है। लोगों ने कहा, ये कौटोवाले झाड़ है।

किन्तु इन कौटो में से यह क्या होने लगा। गुलाब। यह लाल-लाल क्या है। यह गुदगुदी सी बेसी है। यह पंखड़ियों की हरियाली मुड़ी में क्या बैसा है, लोलो लो।

ओहा तुम हो आर्क्यु। तुम्हारा तो स्वभाव नीचे की ओर जाना था न। और यह लो, दस-बीस से भी कौटोवाली कहानी उनके बचानी न पूछ पाया कि हरे खौटो में से निकलने वाली रोपनाम की इबार-इबार खीनो की तरह सिलनेवाली कलियों की पंखड़ियों, वे जमीन पर जा गिरी।

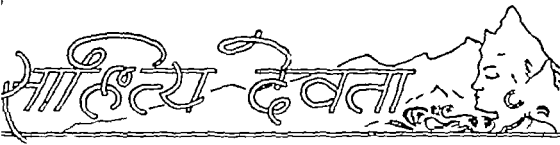
मेने बूमकर देला, इतनी फटोर यात्रा। कौटो की बूझती और कौटो में बिन्दगी बिसाती, अपने परिष्काम पर पहुँचने में इतनी बेकरार। आहो तुम हा आर्क्यु।

किसने उस दिन कहा था, आर्क्यु न हो तो कोई क्यों जीवे। फिर न जाने किसने उस पर माया-टीकर की थी कि आर्क्यु के बिना तुल कहाँ। क्या बिनके आर्क्यु है वे सुली है। क्या जो सुली देखते हैं उग सभ में आर्क्यु है। तब तो वह जीवन का श्राप है जो मिलकर रहा होगा।

और क्या तुल सभके पास है तब वह दुःख से भी बदतर होगा। किन्तु अभी तो उस कौटोवाले बूझ ने कहा था कि वह हरीतिमा लेकर तुल से उठा था और आर्क्यु पाकर पंखड़ी-पंखड़ी धूल में मिल गया।

किससे पूछें कि क्या ऐसा कोई सुल ही नहीं है जिसमें किसी आर्क्यु की बरत ही न हो। और क्या ऐसा कोई आर्क्यु ही नहीं है जिसमें तुल

जीवन का प्रश्न-चिह्न—कौटो ++



की इच्छा न हो। तौबे के एक पीने का आकर्षण तैरे को साँप के साथ खेलने का सिलवाइ प्रदान क्यों करता है ? दुबकी लंकर लौटने के बाद ली जाने वाली साँसो समेत अपना पेट भरने के लिए मोती खान वाले पनडुप के मन में तौबे का पैसा यह आकर्षण क्यों उत्पन्न करता है कि यह अपनी हाथ की, एक साँस का भी बिसके साथ अनन्त सामे अभी तक जुड़ी हुई है, पाड़ी पर चढ़ने और पानी में मिराने के लिए गोते पर गाते राय ? अत्यन्त शरीर, रूप से चिट्ठा, पैरों से रहित, कपों से लावार और कुष्ठ का रागी रेलवे प्लेटफॉर्म से जूटी पूड़ियों के टुकड़े और तरकारी से लिपट हुए पच समेट कर एक अपेक्ष, पागल किंग्डम में पीमार स्त्री के पास उसके मुँह में जूटी तरकारी पचों में से गोप-नाचकर क्यों डाल रहा है ? और द्विरागमन के प्रथम-मिलन, अपना मुँह की प्रतिम-मोट की, सारधानी और उल्लुखना के साथ इन दोनों ही प्राणी कइलाने वाले पदनतीपो की आँसो में यह आँसु क्यों आगये हैं ? क्या तुम ही आकर्षण ! क्या तुम ही मुन ! ! क्या दोनों एक साथ हो ! का एक आ पुन है और दूसरा आता आ रहा है ! आकर्षण, यदि तुम ही हो तो नारद की बीणा से कइती की जूटी पूड़ियों तक उठरने के लिए तुम्हें किसी ग रोग्य नहीं !

क्या तुम प्रभु से अधिक धनवान हैं आकर्षण, जो यह तुम्हें नहीं राक सकता, म जैसे पर चढ़ते हुए न नीचे पर आते हुए ? फिर यह मइहप क्या कह रहा या उल्ल दिन ? क्या इन कइती और इस पगली की गजुरि भी किसी मइहपी हिलाप में लिगी है आकर्षण ! यह मैं कैसे जानूँ कि बीणा लहर भारत दागु बर्मिन पर, या पगली का प-पहचान प्रतिम खेदी जैसे पर, लाहा है ?

साहित्य-देवता



तुम्हें प्रेम कहते क्रेष आता है आकनष्प । शर्म मालूम होती है । साज लगाती है । निषेध से श्यामद ही तुम्हारा धीरे रिरता हो सकता है । वेरमा से लगाकर परम-मक तक सब बिस प्रेम शब्द पर अपना अभिचार रखना चाहें, रफले हुए हों, उस शब्द के भी क्या धीरे भर्षे रह जाते हैं ? तो क्या, एक सिंघास से जीवन की परितमासि तक जो जोर हिल रही है और बिस पर पंक्षियों की तरह फिर उड़ता और फिर पंथता सम्पूर्ण मझायक का अड पेतन उहरा हुआ है, उस प्रकण्ड सषा—प्रेम—के अस्तित्व क मानी मानने से धीरे इनकार कर सकता है ।

जीवन की दोपहरी बोली, प्रेम ने मुझे क्या नहीं दिया ? जो/ उस दोपहरी में आनेशाले वेष्टवृ सैद-विशुद्धों ने कहा, इस कमकल्प प्रेम ने हमसे क्या-क्या नहीं ले लिया ।

बैची-बैची-सी दीलनेवाली उसीसों की मन पर अनमत् बोझीली अगस्थित गौठी में तुम्हारा रहस्य देखू प्रेम !—या, गाम्भीर्य का दिवाला खड़की हुए, पाठारू कुचे की तरह टूट-टूट पड़ते भाँसुओं में, तुम्हारा चोटपन देखू ?

जीवन की पादों का बैपना-भोरिया समेटकर मैं जला किस तरफ का ? सौंसों की यह सड़क किम तीर्थ की आर जा रही है और कहीं जाकर उहरना होगा ? क्या मरथ के महान् क्षेत्र पर ? क्या यह लाजारी है कि मुझे मृत्यु के मन्दिर तक जाना ही होगा ?

फिर यह तीर्थ नहीं है,। तीर्थ में मर्दों के बिना लोग नहीं जाया करते । हम मुक्य छरागार में ल जा रहे हो । उस जगह जहाँ पर मेरी मर्दों मा-मर्दों नहीं चल सकती ।

माहित्य-देवता

अन्म की पहली सौंस के साथ मैं तो रोया था धनसीप ! जीवन की मैंने उषण माया-टीका की थी । किन्तु, पापघात ! तुम भा गये । मैं के रूप में स गुजर कर मेरे मुँह में । मेरे रुदन का तुमने संपर्प कड़ा; मरी सौंसो का तुमने हर्ष कड़ा । और मैं मूल ही गया कि मैं पहिल दिन राया था ।

और तुम यह ही पने; मुझे रूप पिगतने, मुझे लड़ाते, मुझ रँगुमियो पगाले मेरी पशु-संज्ञी किणकरियो में से मानव जेव बाध पड़ते; मेरे जीवन के विकास के लिए तापमान का निमाण करते और दुष्प की स्तिण्य घात म मरी अनमल सौंसो को गदते । तुमने ही तो यह मप अनर्म किया है । मैं नहीं जानता था कि तुम कर्म हो । आज भी नहीं जानता ।

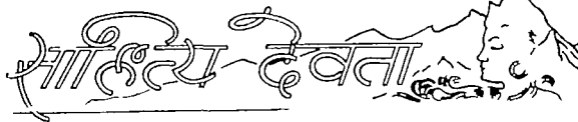
तुमने कहा 'मैं' धालो पया; और मैंने मैं कहा । 'आर यह तुम हो प्रेम ! तो यह तुम्हारा कर्म-सा हुलार है कि ली जाने वाली सौंस में, किय जानेवाल काम में और इस तरह सम्पूर्ण जीवन में यह मंपपण है । क्या तुम स्वयं संपर्प हो ?

कल्पना, कल्प, केलि और इति ये मरी जागरें महीं हैं । यदि यह सब कुछ तुम्हारा है तो संपर्पण का बर्दान मुझे क्यों ? और यह संपर्पण किस दिन घुरेगा ? क्या ली जानेवाली अन्निय सौंस के दिन ? तब प्रमण्य जादूगर प्रेम, यह सात और कुछ महीं कल्प तुम है ।

आया तुम्हें पूरी करनी है और थोम्ह मुझे दान है । मैं तो राहुण साहत्यायन की निष्पत्त पाया मे मिलनपाला कुली है जिसे सारा बाध उठाकर मूल्य के 'ल्हामा' तक पहुँचा दना है ।

यह कर्म मानेगा कि सौंस मेरी महीं है । मानव बेभारा ! मैं जान किम-किस का अन्ना कहुने का बाध्य है । और मारी टिप्पणो और

शालित्य-देवता



क्रियकारियों में जब बचन के वृष की याद आती है तब रुदन याद आता है। संकट आया, कि रुदन आया।

अनहोना बचान है कि रुदन, कठोर उठार है कि रुदन अतीत पुमाव है कि रुदन। एक मूल मन है कि धीमन की परखी रासि क साय भिका। अमुष्मा ने वा उसे हरा मरा ही रखा। अग्न में तो यह परखा है अन्म-विधि में वा यह बड़ा भार है।

(२)

अल-मिषानी का खेल पुरा नहीं जाता, वह पुरा हा जाता है, जब बरसों से तरस-तरस कर हूँडा जानेवाला व्यक्ति अल-मिषौनी खेलने वालों में शामिल हो जाय। और भरण के क्षणों में भी उसका खेल समाप्त न हो।

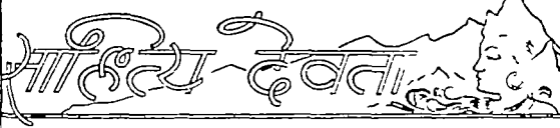
तुम ऐसे ही रहस्यवादी हो प्रेम। आखिर तुम हो क्या? तिर में वा मीठी-मीठी-सी ससवीर बनती है, क्या वह तुम हो? फिर जो थू चामा-सा घटना बनकर कहीं घट जाता है वहाँ तुम क्यों हाकिर मिलते हो?

क्या तुम वह क्षण हा जिसे सर्वनाश के क्षण गन्नाजल पर अभिवेक करके कहा जाता है। अपना तुम वह हा जो निर्माण में अपने असा अपना अपने से मीठा बनकर अपनी ही गोद में तिर से लरान के लिए ललच पड़ता है?

क्या तुम महान् मानवल के अपना विश्व के महान् निर्माण के छाचार, एक से दा होने की बल्की शर्त हो? निर्माण से पहले भी और निर्माण के बाद भी? तिर दो की यह लापारी अचार चलते-चलते गतिशील अस्तित्व ही के पीछे क्यों पड़ी है? धलि में लटकनेवाला पन्न का और

अपन का प्रन-चिम्ह—रुदी +

१४४



इस की बात पर आनेपाथे पत्न का दूसरा धन और दूसरे न्याय की सहायता की इच्छात क्यों नहीं जाती ?

जिन धर्मों का अधिपति जगत् में कहीं न भी बना हुआ मुनाइ पद थाप उन्हे सिर क भास-वास दूरी पर रत्न की मृगता किमन की ह ? वे ता नइदीक-नइदीक रहते तब भी बहा बात होती । और जिन धर्मों का सामन से धारा ने हा जाननाया पदार्थ मक न दीने और भाग करने पर पीछे का पदाथ तक न माजूम हा, उन्हे सट्याकर कनाम में रत्न की मागनी किमन की है ? यह समूर्ण दिराओ का अन्धकार में रत्नकर एक हा धरने ने दादा लापटेन सटछने का बनुराद का धन्यवाद किम दिसा थाप ? क्या बही इस बात के किम जिम्मेदार है कि मुझों में और धर्मों में राजा भी खुद हा, रानी भी खुद । अपना विपन्न भी वे ही और विपन्नता भी वे हा । धन कइता है, अद्वैत क बरणों में निनाए का रस मही रहता । तप फ्या, इस रस की आवरपक रतर्त है कि अद्वैत गतिहीन हा, प्रगतिहीन हा, जइ हा ? माता, निनाए की बहिर्वा तमवता में अत्यन्त आगरएशाम जग म इसी जइता की मोग करती है, किन्तु मेरा ब-मुगना हुआ सताम किमन आकर कइ कि निर्वाण की या प्रेन की रतर्त जुदाइ, इंत, क्यों है ।

जिर तुम्हारे पदान गतार भी ता किमिअ है पैन ! एक राजा था, अत्यन्त अत्याचारी । मानव ही राजा या और मानव चम ही पहिन्ता था मान लो । वो मूखन मे न करते थे बह उसम करते थ । जा बादों स नहीं यहते थ—उन्हे खर कर पर करते थ वे अत्याचारी राजा की पूँक म उड़ते थ । और समूर्ण अत्याचारी का बग्नेगला यह, जब ज्ञान अत्याचारी की धानी-धना मवाणी पृष्ठभूमि पर किमो मुद्यमवता क कचे पर हाय रग

साहित्य-देवता

कर मुस्कुरा उठता है और जीवन की मीठी चर उठता है तो भस्म होकर, पाबला जीवन अपने समस्त मीठपन को लेकर उसपर समर्पित होने कबो दोड़ता है ? यदि दोड़ता है तो यह यह कबो कहता है कि ओ किसी पर प्रेम न कर सकर यह मुझपर प्रेम करता है । क्या यह सम्मेलन भी प्रेम ही कहा जायगा, प्रेम ? क्या प्रेम की विरासत पान के लिए आतंक की वृष्टमूमि निर्माण करना प्रेम की परिमाया कहा जायगा ?

ना यह बात नहीं है कि इन पंक्तियों के लेखक ने अनाधरक आतंक की ममानक मूमिका ले ली । अन्धी मूमिका लीजिए । एक सदाया है, गुणी है, बिधा कर संभार है कला कर आगार है । वस, जीवन की लरीद फरोएस को इतनी शर्त काफी हो गई । फिर व्यास तो हरएक को लगती है न ! करोड़ों की आधी दुनिया की व्यास के लिए करोड़ों की ऐसी आधी दुनियाँ कहाँ से लाई जायगी ? यदि नहीं तो सोलह हजार गोपियों के कन्हैया क्या इतिहास के परे के युग को छोड़कर पुनः जगत में अनेक अवतार धारण करेंगे ? और यह तो बताओ कि जिस गुणज्ञ कर गुणज्ञ समझकर प्यासी ओंओ ने अपने आपको समर्पित किया, यदि उससे अधिक गुणज्ञ, मिल गया तो ? और मिलता ही जाता गया तो ? क्या रोडामा एक के प्रति ईमानदार हाकर दूसर को दूँदते रहना ही प्रेम की परिमाया होगी ? समाज संगठन बिगड़ने कर तर्कशून्य कारण देकर मैं अपने पक्ष को उठर नहीं चाहता । क्या प्रेम, जीवन की अस्थिरता का नाम होगा ? क्या प्रेम के बाजार लयेले और लक्ष्य गुणेले ? फिर भकतर पारद से लणालर केरका तक सब प्रेम के हकदार हों तो इसमें आरपय क्या ? और तब कबो प्रेम 'शब्द' का कई अर्थ चाहिए ? तब क्या प्रेम नाम की कई बरछ नहीं है इस रूपमें जाने

आदर्य-देवता

पाई, की दुनिया में ?

रूपया, आना, पाह—यह किस चीज का नाम है ? कठोर आदर्शवाद और रूपया-आना-पाह, क्या ये दानों ही जीवन की तराजू के दो पल्ल हैं ? फिर जा कृपा रोटियों के टुकड़े खाकर मेरी आर से मड़क के राहगीनों का मेर पर के पास से नहीं गुजरने देता वह आदर्य प्रेमी है ! ये मेरी गाड़ी ले जाया करते हैं मैं उनके कष्ट पहिन भिया करता हूँ। ये मेर द्वारा उत्पन्न किए गए अपने तप्यों का हिसाब नहीं रखते और ये उनके द्वारा मष्ट की हुई अपनी वस्तुओं का लता जोगा नहीं रखता हूँ। क्या लोक-दान में यह सावधान या असावधान लापरवाही प्रेम की अनिवार्यता है ? तप मेरी आकांक्षाओं की बुद्धि पर पर मुर्ख-वेरी की जगह चार मुर्ख-वेरियों लुटानेवाला दिन आम तो ? क्या जीवन के गहन के दाआर में अधिक म अधिक दान लगना ही प्रेम कहा जायगा !

किम्बु, एक सपन पढ़ा भरए-स्वप्न ह। सौन्दर्य मानव की कनशारी है। र्षि पर उतरते हुए मानव की अँसों के दलास 'जी तक पहुँचान के लिए सौन्दर्य का मधे से मया मान हूँदते निगते हैं। सौन्दर्य—पितृगुण विदर्शी वस्तु है। मेरा रूपता जिसमें कुछ नहीं है।

एक मग्हा-आ कष्ठा, नग्हे-न हे पुँपराण काय लतकता, कनी छिमकता, कमी कुदकता, और कमी राता हुआ सड़क पर आगपा, मैं दौड़ा और कष्प को बुझने, दुसरान, लड़ने लगा। क्या यह मेरी उदारता है ? यह महानता है। यह निरव-वस्तु है। यह प्रन है। मानव की बुरी-म-बुरी मानना को अष्ठा म अष्ठा नाम देने के लिए मानव निर्दिन रूप में शब्दों का टाग क्यों पढ़ने लगा ?

किम्बु क्या मेरी अँतो और अँतो में म गुडर कर निनरनेराण मन की

साहित्य-देवता

यह सौन्दर्य-शोषिता न थी ! नहीं तो मेरे पुष्पन और हाव-भाव के बीचों-बीच मेरी बाईं ओर तोंगे के लकड़ों से टकरा कर गिरा हुआ फल्ला, जैसे कपड़ोंवाला किन्तु तरसती कठुणामयी, अचह्यम अर्धोवाला बच्चा मुझ प्रेम के सघाट के कृपा-कणों का पहला अधिकारी क्यों न हुआ ! मेरी पीपल के पेड़ के अर्धे होती तो यह दस्तता कि मेरा हर पुष्पन और पुस्तार सन्ध प्रेम के खिलाफ मेरा विरहासपात था ।

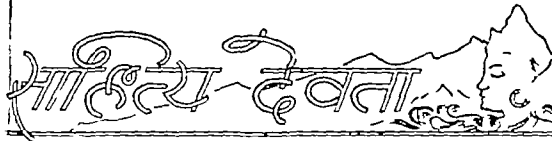
एक भार या दोनों ओर उफसनेवाले मटिपन की बाड़ी लगाकर श्रद्धम-स-श्रद्धम पढ़ना और अपने अभिमत की नजर पर सदैव सुन्दर बनकर मूमते रहना और इस सुन्दरता की होड़ा-हाड़ी का खेल सतत जारी रहना, क्या नहीं सौन्दर्य है !

ज्ञान ने जीवन को सुनाने की जो विरहासपात-पूर्व कला खिलवाई है—जिनके पास यह नहीं है वे इस हाट में क्या करें ?

और मानिने एक राजा या भार उसके की एक रानी । राजा कुछ सोचला था रामी गौर बर्फ । एक दिन की बात कि जेपक से रामी का सौन्दर्य बिहस हो गया । यह क्या, रूप की ओट में राजा को जिस रानी में लार-लारत गुण दीवते थे, रूप का पर्दा खिड़ोवाला होते ही रानी का सभ गुण धनकर यह गये, और फिर एक नये रूप की तलारा । फिर, बमके के सखेद, पीले, काले से भेद नी होत लगे भार ये सभ प्रेम के माप पर ।

मौ की तब सन्ध के रुदम स धर्ये की मूल मौं का लग उद्य करती थी । जब रमणी हुई तब रूप की राक्षसी नित नय म्बसूत जाने लगी ।

तब यह, जा अपन अभिमत के कष्टों में प्याकुल होने का भावक है ह केवल इसीलिए न कि विलास के सुरतद स्रष्टों में बाधा पड़ रही है । यदि



बिनास का एक-एक बमूल न हो सके तो प्रेम का अस्तित्व ही शायद नहीं बाहिर ।

बोसो प्रेम । क्या तुम रूप पर अनलम्बित हो ? फिर विधाता की कृपा ने बिन अभागों के मुँह नहीं पोते उनके मुँह का दरद क्या उनके हृदय का दिया जायगा ? क्या उन हृदयों को जो कड़ उठने हूँ हम बिन्दगी भर कष्ट बर्दारत कर लेंगे, तुम सुखी रहो । क्या उन हृदयों को जिन्होंने अपने सर्वनाश का पना न दिया और हृदय के पानी से अत्याचारी आभय-स्वप्न को हरा-हरा करके रखा । तब तो इतरतर की कन्नना में ध्याग लगने का तमाशा रूप की हाट से सुन्दर और कहीं गहरी दला जा सकता । उसी रूप की हाट में बिसने जाकर लौटना नहीं जाना । और उसी हृदय के लिप्याक सिद्धोह करके बिसने तपामत पर आकर लौटना नहीं जाना ।

क्यों प्रेम, तुम रूप हो । तब रूप में सुख अनुभव करें कि तुम में ? तुम का मुन के साथी में न, रूप की रहन रसी हुई जाननाद कब से हुए ?

प्रेम ।

कितना छाया-सा शब्द, कितना बड़ा रहस्य और प्रथम पिय हुए ।

कितना छाया-सा शब्द, का मानव क परी न इलेकला का, न जान कितना दया है,—और न जाने कितना उनमें से से लता है ।

(३)

एक बिसाक का सपना उषार से ता—जीवन-रूप पर कइ तीर्थ-पत्नी हम, संवर्ष में पहिलों बितते हैं, दिनों में दिन, महानों से महाने, परसों से बरस लड़ा दते हैं, और इसक बाद हमारा तीर्थ का जाता है—मरण ।

एक अनहोना संवर्ष, मों के गर्भ से टाकन के पहिल दिन के रा पहिल से

साहित्य-देवता

प्रारंभ होता है और राम कहलाने के लिए परेशान करनेवालों की बेचैनी के बीच, ली जानेवाली अन्तिम साँस के साथ खतम होता है।

अपटन-मटना में, जिसकी साँसें रोप रह गईं, जो विक्रोह में, दुर्घटना में, रोग में, कष्टों में,—यमराज प्रकृ होकर निकल आना, उसका हर्ष, संघर्ष से पुनः प्रारम्भ होता है।

ऐसे कठोर संघर्ष में भी, तुम भी ले जाते हो—तुम !—प्रेम !!

प्यार, क्या तुल से भी तुम्हारा कहीं रिरता है ? कम लाग जागते है।

क्या तुल से तुम्हारा रिरता नहीं है ?—कम लोग इस पर विश्वास करते है।

ओ प्रेम ! तुल भी ता तुम्हारी ही तरह रहस्यों से मरा है।

बोर जेल में जाकर रोता है, देशभक्त जेल में जाकर गर्वित होता है—
एक कार्य में, एक कष्ट में, एक असुविधा में, एक खतरे में, दो मुनिकर्ष—
एक तुल-नाश की, दूसरी तुल निर्माण की।

सम्पूर्ण समझदारी के दापेदारों से पूछो, क्या उन्हें प्रेम का भी दावा है ?
और सम्पूर्ण-ज्ञान की उलझन भरी तुलझकों के गर्वितों से पूछो—क्या कमी
उन्होंने तुल पाया है ?

और क्या समस्त संसार के समस्त दुखों और विरोधताओं की स्थ में,
उनके अन्तरात्मा और परिर्षल में, यह कमी जान पाया है कि प्रेम और तुल,
कप साम आते हैं, कप असंग अलग ? कप आते है, कप चले जाते है ?
और किसके जाने पर क्षेम जाता है ? किसके जाने पर काल आता है ?
किसके जाने पर क्रोध आता है ?

शर्म, बेशर्मी, और संकटों में भी, जीवग की तरह, दुलरापे जाने का क्षालप
उत्पन्न करगे में सफल तुम, प्रेम; टुकड़े-टुकड़े हाते और रक्त-दान में लहलुहान

साहित्य-देवता

भाम्य पर उल्टी के रफ से 'भान'द लिखने में परम निष्ठुर तुम, प्रेम; कौन कहता है कि जगत न तुम्हें मधुर कहकर, मासुर्प के साथ विरपासपात नहीं किया ? और कौन कह सकता है कि उमने विरपासपात किया ही—अनिर्दयनीय तुम !

प्रेम और मुक्त ! यदि तुम दुश्मन हा ता सगे, यदि तुम मुग्ध हा ता यह कल्पद प्रिय, यदि तुम मित्र हो तो बड़े पक्षपातकारी, यदि तुम कमठारी हा ता बड़ी भयङ्कर, यदि तुम पल हा ता बड़े निर्दय, और यदि तुम अस्तित्व हा ता यह आक्षयक, मधुर, माहक !

तुम मे बिना प्रवेश किये, तुम मे से बिना आरपार गुजर, तुम्हारा बिना शाय किये ही, तुम्हारा महान् मूल्य मानने के लिए मानव जिनना साधार ! कितना उतावला ! कितना अन्धा ! 'प्यार' को यह 'प्राण' कहने लगता है ! ठीक भी है, 'सिर' देने की बात भी लोग सिर ही में तो सोचने हैं !! और मूल्य भी कितना भारी, अभी उस दिन सभ्राट् पञ्चवज ने गरी हाबिर कर दी !

तुम्हारा हाबना कितना भारी—गरी, मुकूट, छाना, चाँदी, रक्त, राज्य, इश्वर आपरू, प्राण—क्या-क्या नहीं त्या गये तुम ?

किन्तु 'सुरा' क बिना भी क्या कह जीना चाहे ! प्रेम क बिना भी क्या कह जीना चाहे ?—और इन दानों का प्रतीक, इन दानों का संपाग, इन दानों की मुनर्ण मग्नि कौन ?—श्री !

श्री ! तुमने हमे जन्म दिया प्राण दिया; तुमने हमे मुग दिया—और दिया अरुना प्रेम । तुम्हारे स्नह मे शर्ग का बड़ द्वार खुल गया, जिस इन रुखबट की दीवार समके थे, तुम्हारे स्नह म अन्धों का दीगन लगा—और तो मुक्त गइ और आँगराम अन्धे हा गय ।

तुम्हारे स्नह न हमारी समक का माँका, उस जमझीला बनाया, हमारा

आहित्य-देवता

मनोमार्थों को सुक्ष्मज्ञ और पारोक्ष्य-व्यक्ति क्रिया, और प्रेम-पथ के ईशानमदार पुकारियों की सुल के धेनु से गोदें भर दीं।

किन्तु श्री !—तुम जो यह महान् शक्ति अपने में रले हुए हो, क्या तुम भी अपने जीवन-पथ में, झोंसे मुँद कर ही चली जा रही हो ?

तुम जानो दक्षि, यह पदलो, सबसे पहले जानो, कि क्यों प्रेम की अवतारणा प्रभु ने तुममें की है ? किस मतलब, किस उद्देश्य से ? क्यों तुम्हें यह धरदान प्राप्त है ?

तुम जो अवसर से उत्पन्न और परिस्थितियों से वै-अप्युद्धार केवल कृष्ण धरसों की गाँठ में बँधे जीवन को, स्वर्ग बनाने की क्षमता रखती हो, क्या जानती हो कि प्रेमदास से जो तुम मानव के लिए स्वर्ग का निर्माण करती हो, उसे तुम्हें किस-किस मारक्रीय कठिनाइयों में से गुजर कर निर्माण करना होता है ? और इमीन पर उत्पन्न होकर, आसमान को, स्वर्ग का कौन-सा सुन तुम्हारे कलेजे में घुसता रहता है ?

धुनि ! जो ली के अनिमित्त संस्करण ! जो प्रेम के मधुरतर और कटुतर स्वाद, तुम अनुभव करो और जानो, कि तुम्हारी हस्त-रेखाओं पर आकर्षण शीला भूमि का स्वभाव, उसकी शक्ति उसका स्नेह, उसका हरिशमा, और सहनशक्ति और सबसे अधिक उसका प्रबलन ठहरा हुआ है। यह जानो, क्योंकि इसे जानकर ही तुम जान पाओगी कि तुम्हारे स्वर्ग के अस्तित्व का धरदान क्या है ?—यह है कथ का अगत, फिर नया कल, फिर नया कल,—और समय का बिना धीरे-धीरे अमर हाना।



